# ''नैषधीयचरितम् महाकाव्य में शास्त्रीय सन्दर्भ''

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी की पी-एच०डी० उपाधि हेतु
प्रस्तुत

## शोध-प्रबन्ध
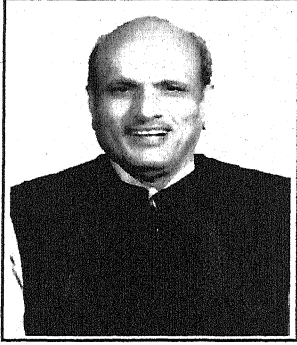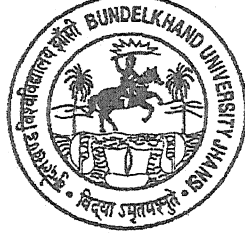
निर्देशक
**प्रो० राम किशोर शास्त्री**
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।
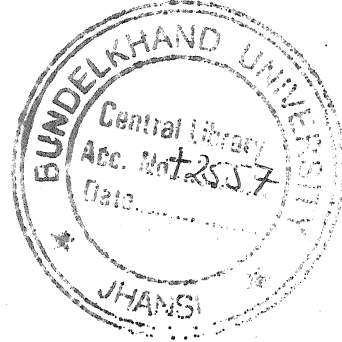
सह-निर्देशक
**डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी**
संस्कृत विभाग
महामति प्राणनाथ परास्नातक महाविद्यालय
मऊ, चित्रकूट ।

शोधच्छात्र
**रमेश कुमार यादव**
एम०ए० (संस्कृत), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।
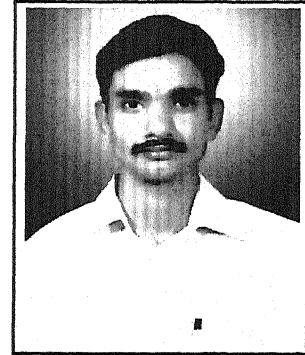
**शोध-केन्द्र**

**अतर्रा पी०जी० कॉलेज, अतर्रा, बाँदा ।**
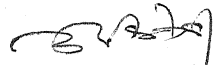
**2008**

# शोध-निर्देशक का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **रमेश कुमार यादव**, शोधच्छात्र, ने पी0एच0डी0 उपाधि हेतु **"नैषधीयचरितम् महाकाव्य में शास्त्रीय सन्दर्भ"** विषय पर शोध-प्रबन्ध को मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। इनका यह शोध-प्रबन्ध पूर्णतया मौलिक एवं नवीन है और इन्हीं के द्वारा सम्पन्न किया गया है। इनके साफल्य की कामना करता हूँ। दो सौ दिन शोधकेन्द्र पर उपस्थित रहकर कार्यपूर्ण किया।

**(प्रो0 रामकिशोर शास्त्री)**
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

**(डॉ0 मुरली मनोहर द्विवेदी)**
संस्कृत-विभाग
महामति प्राणनाथ परास्नातक
महाविद्यालय, मऊ, चित्रकूट

# आत्म-निवेदन

अग्नि पुराण का यह कथन-"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा" और आचार्य दण्डी का यह कथन-" संस्कृतं नाम दैवीवागन्वख्याता महर्षिभिः" कितने महत्त्वपूर्ण है। इसका वास्तविक अनुभव सुधीजन ही कर सकते हैं। पृथ्वी के समस्त प्राणियों में एक मात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो बौद्धिकशक्तिसम्पन्न है, और जिनके समक्ष श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग उपस्थित रहें है। इन दोनों मार्गो में वह अपनी चिन्तनशक्ति से किसी का भी वरण कर सकता है। वस्तुतः श्रेयमार्ग का अवलम्बन विवेकी साधक ही कर सकता है, जिस पर वाग्देवी भगवती सरस्वती की अनन्यकृपा रहती है।

भारतीय परम्परा में संस्कृत भाषा को आदि-भाषा, देवभाषा, देववाणी इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। ऐसा कोई शास्त्र, कोई भी विद्या, कोई भी ज्ञान नहीं, जो संस्कृतभाषा में न समुपलब्ध हो। इस कथन में किसी भी प्रकार का सन्देह और अतिशयोक्ति नही है। हमारा अशेष संस्कृतवाङ्मय अथाह ज्ञानराशि का भण्डार है।

"धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरूषार्थचतुष्टय" की सिद्धि का सर्वसुलभ साधन है। यह परमपिता परमात्मा की अहैतुकी कृपा का ही फल है कि मुझे एक ऐसे यादवकुल में जन्म मिला, जहाँ संस्कार में ही संस्कृतविद्या का आदर समाहित है। यह पूर्व जन्म का संस्कार ही है कि संस्कृत भाषा के प्रति प्रारम्भिक अवस्था से ही मेरी विशेष अभिरूचि विद्यमान रही। यही कारण है कि शिक्षा जगत में प्रख्यात पूरब का आक्सफोर्ड, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद में अध्ययन करने के लिए प्रवेश के समय मैनें

स्नातक कक्षा में संस्कृत विषय लिया। स्नातक और परास्नातक कक्षाओं में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्य-ग्रन्थों का अध्ययन करके मैं विभिन्न महाकवियों की कृतियों एवं शास्त्रग्रन्थों से परिचित हुआ। इनमें महाकवि श्रीहर्ष के सम्बन्ध में साहित्यसमालोचकों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न समीक्षात्मक उक्तियों में - "तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः । उदिते नैषधे भानौ क्व माघः क्व च भारविः।।" इस सुभाषित ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। फलतः मेरे मानसपटल में महाकवि श्रीहर्ष की कृति नैषधीयचरितम् का सूक्ष्मता से सर्वांगीण अध्ययन करने और उसके शास्त्रीय सन्दर्भो को हृदयङ्गम करने की अभिलाषा बलवती हो उठी ।

मै समय-समय पर अपने शोध-निर्देशक परमादरणीय गुरूवर्य प्रो0 राम किशोर शास्त्रीजी से इस सम्बन्ध में अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करता रहा। मेरे परम सौभाग्य से वह सुअवसर भी प्राप्त हो गया जब "नैषधीयचरितम् महाकाव्य में शास्त्रीय सन्दर्भ" नामक विषय पर मुझे शोधकार्य करने का निर्देश मिला। पूजनीय गुरूवर्य के निर्देशानुसार सम्पन्न हुआ प्रकृत-शोध-प्रबन्ध अग्रलिखित पाँच अध्यायों में विभक्त है -

प्रथम अध्याय में भूमिका एवं संस्कृत साहित्य में महाकाव्य की परम्परा, उसके उद्भव एवं विकास का सामान्य परिचय तथा विभिन्न महाकवियों के योगदान का उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय महाकवि श्रीहर्ष के परिचय से सम्बन्धित है, इसमें उनके जीवनवृत्त, जन्मस्थान और स्थितिकाल के साथ ही साथ महाकवि की अन्य कृतियों का सामान्य परिचय, नैषधमहाकाव्य का सर्गवार सामान्य

परिचय एवं नैषधीयचरितम् और महाकवियों में श्रीहर्ष का स्थान तथा नैषध महाकाव्य में शास्त्रीय सन्दर्भों का परिचय को उल्लेखित किया गया है।

तृतीय अध्याय नैषधीयचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु के बारे में है इसमें कथा का मूलाधार, कथा के परिवर्तन परिवर्द्धन एवं नैषधीयचरितम् में वर्णित प्रत्येक सर्ग की कथा को क्रमवार उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में नैषध महाकाव्य में उपलब्ध भारतीय दर्शन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध जैन एवं चार्वाक दर्शनों के तत्त्वों का क्रमवार क्रमशः उल्लेख किया गया है।

पञ्चम अध्याय में षड्-वेदांगो तथा नैषध में समाहित अन्य शासत्रीय सन्दर्भो में आयुर्वेदशास्त्र, संगीतशस्त्र, अश्वशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र तथा कामशास्त्रोक्त सन्दर्भ का उल्लेख किया गया है।

अन्त में उपसंहार रूप में शोध-प्रबन्ध के अध्यायों की विषयवस्तु का तुलनात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

कृतज्ञता ज्ञापन स्वकर्त्तव्य समझता हूँ। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की योजना मस्तिष्क में आने से लेकर टंकण कार्य तक जिन-जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में किसी भी रूप में सहयोग प्रदान किया है। मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता क्रमशः व्यक्त कर रहा हूँ।

महाकवि तुलसीदास जी का यह कथन - प्रातः काल उठि के रघुनाथा। मातु-पिता-गुरू नावहि माथा ।। का अनुसरण करता हुआ। सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य पिता श्री राम सुन्दर यादव एवं पूज्यामाता श्रीमती गुलाबा देवी के चरणों में सादर नमन करता हूँ। मैं माता-पिता के उपकारों को व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। शैशवावस्था से ही मुझे प्राणों के समान पालने वाले, अहर्निश मेरे सुख व दुःख में बराबर सहभागिता रखने वाले,

मनुष्यजीवन में आने वाली अनेकों कठिनाइयों और विभिन्न झंझावातों को सहते हुए सदैव मुझे अध्ययन के प्रति प्रेरित करने वाले माता-पिता के चरणों की मैं शत्-शत् वन्दना करता हूँ और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे माता-पिता को दीर्घायुष्य बनायें। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध भगवती सरस्वती के महान उपासक, व्याकरण, दर्शन साहित्य, वेद-वेदांग, इत्यादि विविध शास्त्रों के सूक्ष्म ज्ञाता परमादरणीय गुरूवर्य प्रो0 राम किशोर शास्त्री (संस्कृत विभाग, इ0वि0वि0) तथा संस्कृत के मर्मज्ञ प्रकाण्ड पण्डित परमपूज्य गुरूवर्य डॉ0 मुरली मनोहर द्विवेदी (महामति प्राण नाथ परास्नातक महाविद्यालय, मऊ चित्रकूट) के सदुपदेशों तथा प्रोत्साहन का ही प्रतिफल है। पूज्य गुरूवर्य के महान उपकारों को शब्द सीमा में बाँधना न तो सम्भव है और न तो उचित ही है। अतः कृतज्ञतापूर्वक उनके चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम करना ही अपना परमकर्तव्य समझता हूँ। भारतीय परम्परा तथा संस्कृति में अनादिकाल से गुरू का स्थान सर्वोच्च रहा है। यहाँ तक कि परमात्मा का साक्षात्कार कराने में भी गुरूकृपा से महान अन्य कोई साधन नही है। उदारमना श्रद्धेय गुरूवर्य ने नैषधयीचरितम् महाकाव्य के ग्रन्थ और विभिन्न शास्त्रीय गुत्थियों को अपनी विलक्षण प्रतिभा से समय-समय पर सरलतम् ढंग से सुलझाया है, जिसके द्वारा तत्सम्बन्धी मेरा अज्ञानान्धकार दूर हुआ और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को परिपूर्ण करने में सहायता मिली। ऐसे धीरगम्भीर उदारव्यक्तित्वसम्पन्न गुरूवर्य के श्रीचरणों में कोटिशः प्रणाम करता हूँ तथा यह अनुभव करता हूँ कि मानव अपनी माता के समान गुरू के भी ऋण से कभी मुक्त नही हो सकता है।

इसीक्रम में संस्कृत-विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो0 मञ्जुला जायसवाल, प्रो0 के0जे0 नसरीन, प्रो0 कौशल किशोर श्रीवास्तव, डॉ0 उमाकान्त यादव प्रभृति गुरूजन के चरणों में सादर प्रणाम करते हुए हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने स्नातक स्तर से लेकर स्नातकोत्तरपर्यन्त अपने ज्ञानोपदेश से मुझमें विद्या का सञ्चार किया है।

कर्तव्य के प्रति सतत जागरूक करने वाले तथा शिक्षोन्नयन में योगदान देने वाले मातामह श्रीरामदेव यादव एवं मातुल श्री हृदयराम यादव का भी प्रकृत शोध-प्रबन्ध में सहयोग के लिए सदैव आभारी रहूँगा। तथा ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इनकी स्नेहिल छाया मुझे हमेशा मिलती रहें।

अगाधवात्सल्यमूर्ति परमपूज्य पितामह श्री राम अधार यादव एवं चाचा श्री श्याम सुन्दर यादव, श्री केशवराम यादव और श्री रमाकान्त यादव का आजीवन ऋणी रहूँगा, जिन्होने अपने पुत्रवत् स्नेसिक्त भावना से प्रेरित कर मेरे मनोबल को हमेशा बल प्रदान कर, इस दुरूह कार्य को सरल बनाया तथा परिणति तक पहुँचाने में सहयोग प्रदान किया।

प्रिय अनुजद्वय लालता प्रसाद यादव एवं प्रशान्त यादव तथा छोटी बहनों कु0 बिन्दू यादव, कु0 इन्दू यादव कु0 नीलिमा यादव, कु0 विनीता यादव, कु0 रीता यादव ने समय-समय पर अपने सहयोग के द्वारा यह कार्य सरल बनाया और प्रकृत शोध-प्रबन्ध को परिणति तक पहुँचाने में सहायता प्रदान की है। अतः मैं उन्हें हृदय से साधुवाद देता हूँ।

स्नेह, विवेक और समर्पण की त्रिवेणी सुश्री कंचन यादव के मनोकामना का ही प्रतिफल है, जिन्होंने इस जगत में सबसे महत्त्वशाली सम्बल कहा जाने वाला 'मानसिक-सम्बल' देकर लेखन कार्य हेतु मुझे

प्रेरित किया और इस शोध प्रबन्ध- के परिपूर्णता की साक्षी बनीं। उनका अमूल्य सहयोग मेरे लिए आजीवन गौरवास्पद रहेगा। अतः मैं उनका मनसा-वाचा-कर्मणा आजन्म कृतज्ञ रहूँगा। तथा जगत् स्रष्टा से कामना करता हूँ कि जीवन-पथ में पग-पग का साथ बना रहे।

डॉ० रामवर्ण शुक्ल (रीडर, प्राचीन इतिहास-विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद) के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होनें न केवल प्रकृत शोध-प्रबन्ध को तत्परता से पूर्ण करने की अभिप्रेरणा प्रदान की, अपितु मेरे अबोध मस्तिष्क में अध्यवसाय के महत्त्व का सृजन करके निरन्तर कठिन परिश्रम करने के लिए प्रेरित किया।

अथच् तमाम सामाजिक सरोकारों से जुड़े रहने के कारण तथा छात्रजीवन के संघर्षमय मार्ग में हमेशा तत्परता से साथ देने वाले **मा० श्री राहुल गांधी** (सांसद अमेठी), श्री के०एल०शर्मा (सचिव माननीया श्रीमती सोनिया गांधी एवं मा० श्री राहुल गांधी) तथा श्री सुभाष त्रिपाठी (पूर्व अध्यक्ष इ०वि०वि०) का हृदय से आभारी हूँ। जिनका सहयोग संकटकालीन परिस्थितियों में मुझे हमेशा मिलता रहा है और परमपिता परमात्मा से कामना करता हूँ कि हमेशा इसी भाँति उनका सहयोग मिलता रहें।

स्नेहिल भावना की प्रतिमूर्ति डॉ० रञ्जना यादव के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त रहता हूँ, जिन्होंने बड़े होने की जिम्मेदारी का निर्वहन करते हुए मेरे अबोध मस्तिष्क में छात्रजीवन की प्रारम्भिक अवस्था से ही कठिन परिश्रम के लिए प्रोत्साहित किया है और अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से दुरूह प्रतीत होने वाले विषयों को भी समय-समय पर सहज रूप में प्रकाशित किया है और ईश्वर से कामना करता हूँ कि जीवनपथ में पग-पगपर उनका आशीर्वाद मिलता रहे।

अधिवक्ताबन्धु डॉ0 सतिराम यादव, श्रीशशांक भूषण पाण्डेय 'चंचल', श्री विजय शुक्ला (अधिवक्ता, इलाहाबाद हाईकोर्ट, इलाहाबाद) का आभारी हूँ। जिन्होंने हमेशा अपने नीर-क्षीर विवेक से मेरी तमाम मानवसुलभ समस्याओं को सुलझाकर इस दुरूह कार्य को सुगम बनाया है।

मेरे परम सुहृद श्री सन्तोष यादव का सतत प्रयास एवं समर्पित प्रेरक सद्भाव मेरे लिए निरन्तर शोध-प्रबन्ध के प्रति क्रियाशील एवं गतिमान रहने हेतु प्रेरणास्रोत का भगीरथ प्रयास रहा है, अतः मै हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ, जिनका सहर्ष सहयोग मेरे लिए आजीवन स्मृतिपटल पर अंकित रहेगा।

हमेशा बन्धुवत् स्नेह देने वाले श्री सुरेन्द्र मिश्र (निदेशक, अनुराग एकेडमी, इलाहाबाद) श्रीसुभाष शुक्ल (प्रवक्ता, बच्चू लाल इण्टर कालेज, पूरा बाजार फैजाबाद) श्री श्रीकान्त मिश्र (वरिष्ठ शोध छात्र) श्री पंजक पाण्डेय (पत्रकार दिल्ली) डॉ0 अनिरूद्ध उपाध्याय, श्री अरविन्द तिवारी (सिविल जज औरंगाबाद, बिहार), श्री राजू सिंह (वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता) को हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनका निरन्तर सहयोग मुझे मिलता रहा है।

इनके अलावा अन्य मित्रों में श्री राकेश यादव, श्री जय कुमार श्रीवास्तव, श्री मनोज तिवारी, श्री राम नयन यादव, श्री राकेश सिंह, श्री राकेश मिश्रा, श्री जगदेव प्रसाद (प्रवक्ता, डी0ए0वी0 इण्टर कालेज, एटा), श्री अजीत यादव, श्री अतीश पाल, श्री धनञ्जय सिंह, श्री मदन गोपाल सिंह, सुश्री मधु कुशवाहा, सुश्री स्मृति दूबे, सुश्री प्रियंका पाण्डेय, सुश्री सुनीता यादव एवं श्रीमती प्रतीक्षा शर्मा का आजीवन आभारी रहूँगा। जिनका सहयोग छात्र-जीवन के संघर्ष में कदम-कदम पर मिलता रहा है।

अनुजवत् रंजित यादव, प्रशान्त शुक्ला, वशिष्ठ कुशवाहा, आनन्द सिंह, अरूणेन्द्र सिंह, रोहित सिंह, सौरभ विक्रम सिंह, अमित सिंह (पत्रकार), संजीत यादव, अशोक वर्मा, राहुल, आलोक ओझा, सन्तोष पाण्डेय का आभारी हूँ जिन्होंने अपना सेवाभाव सहयोग देकर इस कार्य को सम्पन्न करने में सहायता किया है।

इस शोध-प्रबन्ध के लेखन में मुझे जिन रचनाकारों और विद्वानों की रचनाओं का अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग मिला है । उन सभी के प्रति मैं अपना आदरभाव प्रकट करता हूँ। शोध-प्रबन्ध को अत्यनत शुद्धतापूर्वक मुद्रित करने वाले श्री अवधेश कुमार मौर्या (सॉस कम्प्यूटर्स, सलोरी, इला0) को मैं हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिन्होंने अत्यन्त सजगता से अपने दायित्व का निर्वहन किया है।

यद्यपि इस शोध-प्रबन्ध में आयी हुई मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों को अत्यन्त सावधानी से दूर कर दिया गया है तथापि मानवसुलभ अज्ञानतावश जो त्रुटि रह गयी हो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अन्त में अपने इस शोध-प्रबन्ध को प्रातः स्मरणीय माता-पिता एवं गुरूवर्य के श्री चरणों में सादर समर्पित कर यह निवेदन करता हूँ।

''यदक्षरं पदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव! गुरूणां गुरूरूत्तम् ।।

**विक्रम संवत् २०६५** **विनयावनत**

**चैत्र नवरात्र** रमेश कुमार यादव
**रमेश कुमार यादव**

# भूमिका
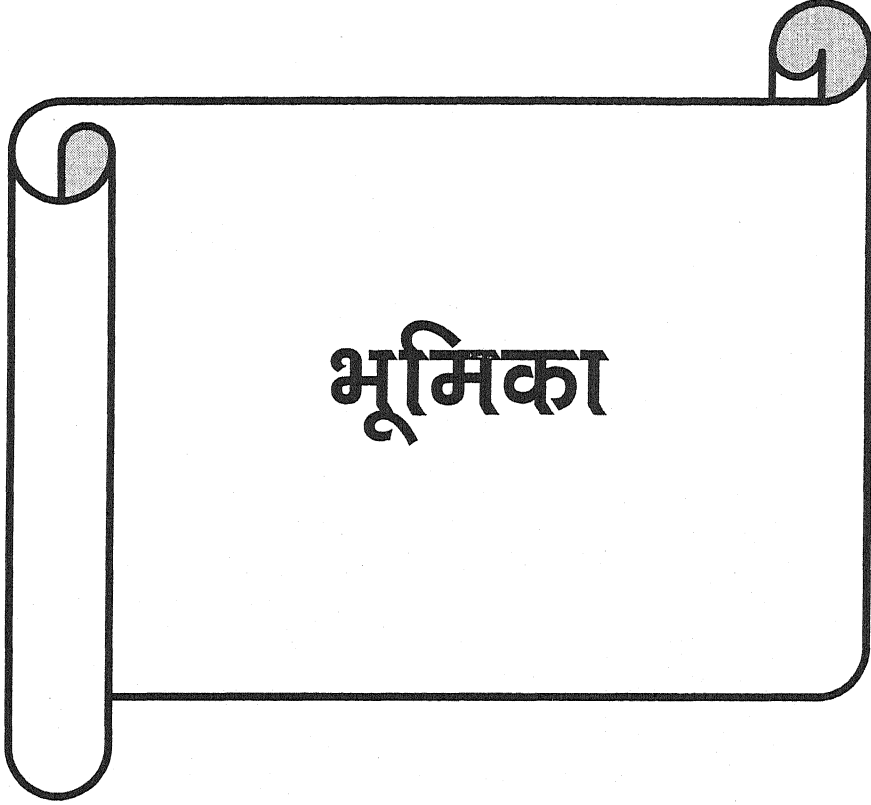
# भूमिका

संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष की गणना प्रथम श्रेणी के कवियों में की जाती है। महाकवि श्रीहर्ष की प्रमुख प्रसिद्ध रचना नैषधीयचरित महाकाव्य है। इसलिए नैषध अथवा श्रीहर्ष काव्य इसके पर्याय के रूप में प्रचलित है। ''नैषधे पदलालित्यम्'' ''नैषधं विद्वदौषधम्'' आदि सहदयोक्तियाँ इस काव्य की श्रेष्ठता का उद्घोष कर रही है। सहृदय–हृदयसंवेद्य–अहाह्लादक–वर्णनों के कारण संस्कृत जगत में यह काव्य अत्यन्त व्युत्पत्ति को अनुस्यूत किया है। व्युत्पत्ति शब्द यहाँ मात्र शाब्दिक व्युत्पत्ति का अवबोधक न होकर काव्यशास्त्रियों द्वारा काव्य–हेतु की चर्चा में काव्य के उपादान के रूप में स्वीकृत व्युत्पत्ति (निपुणता) का वाचक है। प्रथमतः आचार्य भामह ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति, तद्विदुपासन, और अस्यनिबन्धवलोकन का उल्लेख काव्य हेतुओ के प्रसंग में किया था। परवर्ती आचार्यो ने शक्ति, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास के रूप में इसकी चर्चा की ये हेतु इतने संश्लिष्ट है कि इन्हें पृथक नहीं देखा जा सकता तथापि सूक्ष्म दृष्टि से काव्य निर्मित में इन तत्वों के संयुक्त महत्व का आकलन करना हो तब प्रतिभा को आह्लाद से, व्युत्पत्ति को काव्य में रूपायित शब्दार्थ गुम्फन तथा लोक शास्त्रादि से और अभ्यास के रचना–शिल्प से जोड़ा जा सकता है।

वाल्मिकी और कालिदास आदि कवियों की रचनाओं में अनायास आगत व्युत्पत्ति को देखकर काव्य हेतुओं में काव्य शास्त्रियों ने इसका उल्लेख किया होगा। किन्तु श्रीहर्ष के निर्माण के पूर्वतक काव्य तत्त्वों ने इनका विधिवत् उल्लेख कर दिया था। महाकाव्य का स्वरूप भी निर्धारित

हो चुका था इस विधा में कुछ वर्णनीय विषयों का भी उल्लेख आचार्यो ने किया। परिणामतः महाकाव्य जैसी विधा में व्युत्पत्ति-प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती गयी।

महाकाव्य में रससन्निवेश के साथ भारवि से बढ़कर माघ और माघ से बढ़कर श्रीहर्ष ने व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया इसलिए कहा जाता है-

**''तावदभाभारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।**

**उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्वच भारविः।।''**

वृहत्त्रयी में श्रीहर्ष काव्य अन्तिम मणि के रूप में प्रतिष्ठित है। महाकाव्यों में व्युत्पत्ति और कलात्मकता को पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा भारवि ने अधिक विकसित किया, माघ ने उसे आगे बढ़ाया और श्री हर्ष ने उसे चरम सीमा पर पहुँचा। परिणामतः नैषध के बाद कोई भी महाकाव्य इन काव्यों की तरह विद्वज्जनों में प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सका।

मेरी जानकारी के अनुसार श्रीहर्ष के नैषधीयचरित महाकाव्य का साहित्यिक मूल्याङ्कन तो किया गया है किन्तु अभी तक इसके शास्त्रीय सन्दर्भो का साङ्गोपाङ्ग विवेचन नहीं किया गया है इस दिशा में मेरा एक विनम्र प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

# विषय सूची

पेज संख्या

# प्रथम-अध्याय

## संस्कृत साहित्य में महाकाव्य परम्परा-उद्‌भव एवं विकास

# संस्कृत महाकाव्य परम्परा- उद्भव एवं विकास

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भांति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। साहित्य सामाजिक भावना एवं सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुट है तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रूचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक रखकर आनन्द की अनुभूति को, वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को अपना लक्ष्य मानता है। इसीलिए संस्कृतकाव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदान्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत-काव्य की आत्मा रस है।

भारतीय समाज की रीढ़ गृहास्थाश्रम है। अन्य आश्रमों की स्थिति गृहास्थाश्रम पर ही निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थ धर्म को पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है और इसलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ धर्म का चित्रण सङ्गोपाङ्ग, पूर्ण तथा हृदयावर्जक रूप में उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्य धर्म की धुरी पर घूमता है।

यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है, तो संस्कृत के नाटकों में वह अपनी कमनीय क्रीडा दिखाती है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास और भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य को रचना के कारण जितने मान्य है, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण भी आदरणीय है।

संस्कृत-कवि को राजा-महाराजाओं के दरबार की हवा खाने वाला चापलूस जीव मानने की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परन्तु संस्कृत भाषा का कवि संकीर्ण विचारों का कवि नहीं था। उसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। संस्कृत-साहित्य ने मूक जनता को भावों के प्रकटन का माध्यम प्रदान किया, हृदय को सरस बनाने के लिए कोमल भावमय कविता सिखलायी और समाज व्यवस्था के नियमों को बतला कर उन्हे बर्बरता से उन्मुक्त कर सभ्य और शिष्ट बनाया।

## महाकाव्य के लक्षण :

लक्ष्य के आधार पर लक्षण की कल्पना की जाती है। इसी सिद्धान्त को आधार मानकर वाल्मीकीय रामायण तथा कालिदासीय महाकाव्यों के विश्लेषण करने से आलोचकों ने महाकाव्य के शास्त्रीय रूप का अनुगमन किया और आलंकारिकों ने अपने अलङ्कार ग्रन्थों में उसके लक्षण प्रस्तुत किये। किन्तु महाकाव्य का सर्वमान्य शास्त्रीय लक्षण प्राप्त नहीं होता है।

महाकवि दण्डी द्वारा दिया गया महाकाव्य का लक्षण सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। उनके अनुसार-'' महाकव्य की रचना 'सर्गो' में की जाती है। उनमें एक ही नायक होता है। जो देवता होता है अथवा धीर

उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, श्रृंगार अथवा शान्त- इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप में रखे जाते है। कथानक ऐतिहासिक होता है अथवा किसी सज्जन का चरित्र वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए न छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिए। वृत्त को अलंकृत करने के लिए सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, वन, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है।बीच-बीच में वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन रहता है। नायक प्रतिनायक का संघर्ष काव्य की मुख्य वस्तु होती है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिए।[1]

साहित्य-दर्पण में प्राप्त लक्षण सर्वांगीण और व्यापक है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है-

1. सर्गो में विभक्त होता है। 2. इसका नायक देवता, कुलीन क्षत्रिय या एक वंशज कुलीन अनेक राजा होते है। 3. श्रृंगार, वीर और शान्त रस में से कोई एक प्रधान रस होता है और अन्य उसके सहायक 4. इसमें सभी नाटकीय सन्धिया होती है। 5. इसका कथानक ऐतिहासिक होता है या किसी सज्जन व्यक्ति से सम्बद्ध। 6. इसमें चतुर्वर्ग- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन होता है और उनमें से किसी एक फल की प्राप्ति का वर्णन होता है। 7. प्रारम्भ में देवादि को नमस्कार,

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ0 सं0-138, बलदेव उपाध्याय।

आशीर्वाद या वस्तु-निर्देश होता है। कहीं दुर्जन-निन्दा या सज्जन प्रशंसा भी रहती है। 8. प्रत्येक सर्ग में एक छन्द वाले पद्य रहते है किन्तु अन्त में छन्द परिवर्तन हो जाता है। 9. इसमें आठ से अधिक सर्ग जो न बहुत छोटे, न बहुत बड़े होते है। 10. कहीं विभिन्न छन्दों वाले सर्ग भी होते है। 11. सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत होता है। 12. इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, प्रदोष (गोधूलिवेला), अन्धकार, दिन, प्रातः मध्यान्ह, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, युद्ध, प्रस्थान, विवाह, मन्त्र (राजनीति के छः अंग), पुत्र, उदय (उत्थान) आदि। 13. ग्रन्थ का नाम कवि, कथानक, नायक एवं प्रतिनायक के नाम पर रखना चाहिए। 14. सर्गो का नाम वर्णित कथा के आधार पर होना चाहिए।[1] उदहारण के रूप में रामायण और महाभारत में सभी तत्व प्राप्त होते है।

## महाकाव्य-उद्भव एवं विकास

संस्कृत भाषा वस्तुतः बड़ी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के हाथ में पड़कर उसमें भाव प्रकाशन की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो

---

[1] सर्गबन्धो महाकव्यं तत्रैको नायकः सुरः।।315
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित।
एकवशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।।316
श्रृंगारवीरशान्तमेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः।। 317
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत।।318
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।।319
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।।320
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।। 324
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।। 325 -साहित्य दर्पण परिच्छेद-06

जाती है। भावों की सूक्ष्मता के और मनोविकारों की अंतरंग व्यापकता के प्रकाशन में संस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है।

हमारा कार्य यद्यपि संस्कृत के महाकाव्यों की जानकारी करने तक ही सीमित है, फिर भी आनुषंगिक रूप में हमें संस्कृत भाषा की आदि परिस्थितियों का, अध्ययन भी अपनी इस अभीष्ठ पूर्ति के लिए करना होगा। संस्कृत के महाकाव्यों एवं दुनिया के इतिहास में महाकाव्यों की पहली श्रेणी मोटे-मोटे ग्रन्थों के रूप में प्राप्त न होकर, मनुष्य की मौखिक भावनाओं के रूप में मिलती हैं। जिनकी परम्परा सहस्रो वर्ष से अलिखित ही समाज में बनी रही।मनुष्य के संस्कृत विचार ही, उसकी विकासशील काव्य प्रतिभा के लक्ष्यबिन्दु है।

रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थ, यद्यपि आज प्रथम महाकाव्य कहे जाते है। किन्तु महाकाव्य का जो स्वरूप आज है, उसके मापदण्ड के अनुसार क्या इनको महाकाव्य कहा जा सकता है। बल्कि रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थों के रचनाकारों का कदापि यह उद्देश्य नहीं था कि भविष्य में उनकी इन कृतियों को महाकाव्य कहा जायेगा। जैसाकि आज भी उनको केवल महाकाव्य कह कर उन पर अन्याय नही किया जा सकता है।

आज महाकाव्य या साहित्य के दूसरे काव्य नाटक आदि अंगो के लिए जो परिभाषाएं एवं जो मान्यताएं स्थिर की गयी है, भविष्य में भी उन्ही को स्वीकार किया जायेगा। ऐसा कुछ भी निश्चित नही है। 'रामायण' और 'महाभारत' भी इसलिए प्रथम महाकाव्य नही है कि उन्हें हम एक युग विशेष का प्रतिनिधि महाकाव्य अवश्य कह सकते है। इन दोनों ग्रन्थों में हम दूसरी अनेक बातों के साथ-साथ अद्भुत वीर-भावना

का वर्णन विशेष रूप से पाते है। वस्तुतः इनकी वास्तविकताओं को समझने के लिए यह कहना कि ये दोनों ग्रन्थ भारत के इतिहास के प्राचीनतम् किसी वीर-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य है, उचित प्रतीत होता है।

रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों की समग्र-समाग्री और विशेषरूप से उनकी प्रधान विष्यवस्तु उनके निर्माण के पहले की है। वे पूर्वागत कथाएं 'रामायण' आदि ग्रन्थों में अपनी सिद्धावस्था को प्राप्त हो गयी है। इससे यह जान पड़ता है कि प्राचीन काल में सामूहिक नृत्यों गीतों द्वारा मनुष्य अपने जिन सामाजिक व धार्मिक उत्सवों का आयोजन करता था, उसी अपनी सुदीर्घ परम्परा में वे नत्य-गीत एक आख्यान के रूप में याद किये जाने लगे। ये आख्यान गीत ही ऋग्वेद के संवाद-सूक्त है। ऐसे ही संवाद-सूक्त ऋग्वेद में बहुत है। जैसे-यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, इन्द्र-अदिति, इन्द्र-इन्द्राणी, सरमा-प्रणीस और इन्द्र-मरुत आदि। वेद-भाष्यकार यास्क ने इन संवाद-सूक्तों को आख्यान संज्ञा दी है। वैदिक युग की मान्यताओं के अनुसार इन संवादात्मक आख्यानों को ही पहले गाथा नाराशंसी भी कहा जाता था। किन्तु अपनी प्रसिद्धता के कारण कुछ ही समय के अन्तराल के बाद ही उन्हें इतिहास और पुराण भी कहा जाने लगा। क्यांकि ये संवाद-सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे, इसलिए कुछ विद्धानों ने अनुमान लगाया कि भारतीय महाकाव्यों का प्राचीनतम् स्वरूप गद्य-पद्यात्मक था तथा कुछ विद्वानों ने उन संवाद-सूक्तों को नाटक कहें है। महाभारतकार ने आख्यान, उपाख्यान, कथा, आख्यायिका, पुराण और इतिहास इन सभी शब्दों को प्रायः समान अर्थ में ही प्राचीन कहानी के रूप में प्रयुक्त किया है।

रामायण और महाभारत में जो विभिन्न आख्यानों एवं उपाख्यानों का वर्णन किया गया है वे ही संस्कृत महाकाव्यों के उद्भव है तथा उन्हीं का संकलन, संशोधन और परिवर्द्धन करके 'रामायण' और 'महाभारत' का कलेवर निर्मित होकर उनसे महाकाव्यों की एक प्रौढ़-परम्परा का शुभारम्भ हुआ।

महाभारत प्रधानतया इतिहास और गौणरूप में महाकाव्य है किन्तु रामायण प्रधानतया महाकाव्य तथा गौणतया इतिहास है। अपनी इस प्रधानता के कारण 'महाभारत' ने पुराण शैली को जन्म दिया और स्वयं भी पुराणों की श्रेणी में चला गया, किन्तु 'रामायण' का विकास अलंकृत शैली के काव्यों के रूप में हुआ। अतः हम महाभारत को संस्कृत के काव्यों, महाकाव्यों और दूसरे विषयों के ग्रन्थों का पिता तो मान सकते है किन्तु उसको काव्यों या महाकाव्यों की श्रेणी में नही रख सकते है किन्तु 'रामायण' को हम निश्चित रूप से महाकाव्यों की श्रेणी में भी रख सकते और उसको अलंकृत शैली के उत्तरवर्ती काव्यों का जनक भी कह सकते है। रामायण से रूप-शिल्प औरमहाभारत से विष्यवस्तु लेकर महाकाव्यों की परम्परा आगे बढ़ी। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में शिल्प-सम्बन्धी तत्व, अलंकारयोजना, रूपकों उपमाओं का आधिक्य और प्रकृति-चित्रण सभी का आधार 'रामायण' ही है।

**पाश्चात्य-मत :**

पाश्चात्य मत के अनुसार महाकाव्य दो प्रकार के होते है। 1. विकसित महाकाव्य 2. कलापूर्ण महाकाव्य।

विकसित महाकाव्य उसे कहा जाता है जो अनेक शताब्दियों से अपनी सुदीर्घ परम्परा में अनेक कवियों के प्रयत्न द्वारा विकसित होकर

अपने वर्तमान रूप में आया है। यह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। इसे स्वाभाविक महाकाव्य भी कहा जाता है।

कलापूर्ण महाकाव्य वह है जिसे एक कवि अपनी काव्यकला की प्रदर्शन कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के समग्र गुण विद्यमान रहते है। परन्तु यह एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम रहता है। जैसे लैटिन भाषा में वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिए होमर को आदर्श माना और उन्हीं की काव्यकला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया। मिल्टन के पैराडाइस लास्ट तथा पैरेडाइस रिमेण्ड होमर, वर्जिल तथा दाँते के महाकाव्यों के समान उत्कृष्ट मान्य 'कलापूर्ण-महाकाव्य' है। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायेगा तथा रघुवंश एवं शिशुपाल वध आदि द्वितीय श्रेणी में रखा जायेगा।

## कालिदास के पूर्ववर्ती विलुप्त महाकाव्य :

संस्कृत की सुदीर्घ परम्परा की भूमिका का और उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों की समीक्षण करने के बाद महाकवि कालिदास से उसका अभ्युत्थान युग आरम्भ होता है।इस उदयकाल की सीमा लगभग 12वीं शताब्दी तक मानी जाती है। किन्तु कालिदास से भी बहुत पहले इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। स्फुट कविताओं तथा स्फुट काव्यों का अस्तित्व तो और पहले का है। काव्यों और महाकाव्यों के पुरातन अस्तित्व को प्रकट करने वाली ये कृतियां आज जीवित नहीं है, किन्तु उनके अस्तित्व को बताने वाले प्रबल साक्ष्य आज भी विभिन्न ग्रन्थों में देखने को मिल जाते है।

महाभारत के शान्तिपर्व में गार्ग्य को देवर्षिचरित का कर्ता बताया गया है। यदि यह सही है तो चरितविषयक ऐतिहासिक काव्यग्रन्थों का निर्माण बहुत प्राचीन समय में ही होने लग गया था। ये गार्ग्य, वैयाकरण, निरूक्तकार या आयुर्वेदज्ञ गार्ग्य ही थे। या उनसे भिन्न इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से नही कहा जा सकता किन्तु इतना निश्चित है कि वे 'महाभारत' से पहले हुए।

''महावैयाकरण पाणिनी परिचय के लिए मोहताज नहीं है। ये वैयाकरण होने के साथ ही साथ एक सिद्धहस्त काव्यकार भी थे। इस बात को कम लोग जानते है। उन्होंनें ''जांबतीविजय'' नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिसमें 18 सर्ग थे। विभिन्न विषयों के लगभग 33 ग्रन्थों में पाणिनी के इस महाकाव्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में सूचनाएं मिलती है।''[1]

व्याडि पाणिनी के समकालीन थे। संग्रहकार के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। उन्होंने 'बालचरित' नामक एक महाकाव्य का निर्माण किया था। उनके सम्बन्ध में महाराज समुद्रगुप्त का कथन है कि व्याडि-रसतन्त्र के आचार्य, महाकवि, शब्द ब्रह्मैकवाद के पवर्तक, पाणिनी-सूक्तों के व्याख्याता और मीमांसको में अग्रणी थे। उन्होने 'बालचरित' लिखकर 'भारत' और 'व्यास' को जीत लिया। महाकाव्य के रूप में व्याडि का ग्रन्थ प्रदीपभूत था।

महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' में वार्तिकाकार वाररूचि कात्यायन को 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य का रचयिता बताया गया है। वररूचि काव्य की पुष्टि 'महाभाष्य' के उद्धृत श्लोकों से भी होती हैं।'शाङ्र्गधरपद्धति',

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ0-717 वाचस्पति गैरोला।

सदुक्तिकर्णामृत और 'सुभाषितमुक्तावलि' आदि ग्रन्थों में उद्धृत श्लोकों में वररूचि के कविकर्म के प्रमाण सुरक्षित है।

महाभाष्यकार के रूप में पतञ्जलि के असामान्य व्यक्तितत्व का परिचय मिलता है, किन्तु उन्होंने भी एक महाकाव्य की रचना की थी, यह बात कम प्रचलित है। महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' की प्रस्तावना में तीन श्लोक इस आशय के उद्धृत है। जिनसे पता चलता है कि महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि में चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किये, योग की विभूतियों का निदर्शक योगव्याख्यानभूत 'महानन्द' नामक महाकाव्य की रचना की।

इस प्रकार विलुप्त महाकाव्यों, काव्यग्रन्थों या स्फुट कविताओं के सम्बन्ध की अनेक सूचनाएं प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती है।

## महाकाव्यों की परम्परा का विकास :

महाकाव्यों की परम्परा सामान्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे महाकाव्य रखे जा सकते है जो विशुद्ध-संस्कृत में लिखे गये, जैसे कि कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि के ग्रन्थ तथा द्वितीय श्रेणी में पालि तथा प्राकृत भाषा के महाकाव्य आते है तथा तृतीय श्रेणी के महाकाव्य अपभ्रंश में है, जिनसे हिन्दी साहित्य में काव्य परम्परा का प्रवर्तन हुआ।

ऐतिहासिकता को संजोये हुए ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत महाकाव्यों की लम्बी परम्परा तीन युग में विभाजित किया गया है। प्रथम उद्भव-युग कालिदास से पहले, दूसरा अभ्युत्थान-युग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक

तथा तीसर ह्रास-युग तेरहवीं से अब तक माना जाता है। इन्हीं तीनों युगों में सभी समाहित हो जाते है।

महाकाव्यों के पहले हम उद्‌भव के बारे में चर्चा कर चुके है। दूसरे-युग, अभ्युत्थान-युग से पहले इन तथ्यों को जोड़ने की आवश्यकता इसलिए हुई कि महाकवि कालिदास से पहले की परिस्थितियों को पूरी तरह जान लेने के बाद ही हम महाकाव्यों के उत्कर्ष-काल की परम्परा के बारे में उल्लेख करें। इन तथ्यों को भली-भांति समझ लेने के बाद अब हम महाकाव्यों के उत्कर्ष काल की चर्चा आगे करेंगे। तदुपरान्त महाकाव्यों के अपकर्ष-काल अर्थात् ह्रासयुग का भी उल्लेख किया जायेगा।

## महाकाव्यों का अभ्युत्थान-

### 1. महाकवि कालिदास-

महाकवि कालिदास से संस्कृत के काव्य साहित्य का अभ्युत्थान और साथ ही उसकी समृद्धशाली परम्परा का आरम्भ होता है।

संस्कृत साहित्याकाश के ग्रहों तथा उपग्रहों की पंक्ति में कालिदास के 'आदित्य' का ज्वलन्त विक्रम अपनी द्युति से सभी की कान्ति को ध्वस्त कर देता है। उसके तेज के बसन्त के आरम्भ में 'कुबेरगुप्तादिक्' की ओर मुड़ते हुए 'उष्णरश्मि' की प्रातःकालीन सरसता तथा कोमलता है। उसकी कविता के स्थन्दन में 'दक्षिण-दिक्' से बहकर आते हुए 'गन्धवाह' की मानस-इन्दीवर को गुद-गुदाने की चञ्चलता है। उसकी भाव-सम्पत्ति तथा कल्पना अनेकों अनुगामी कवियों के द्वारा उपजीव्य बनाई जाने पर भी, शकुन्तला की तरह किसी के द्वारा न सूघें गये सुमन की ताजगी, किन्हीं कठोर कररूहों से अकलुषित किसलय की दीप्त कोमलता, किसी भी

लोलुप रसना के द्वारा अनास्वादित अभिनव मधु का माधुर्य तथा अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों के फल का विचित्र समवाय लेकर उपस्थित होती है।

यदि कालिदास संस्कृत साहित्य के चोटी के रस-सिद्ध-कवि है तो दूसरी ओर भारत के प्राचीन इतिहास के ज्वलन्त युग का दीपस्तम्भ और पौराणिक ब्राह्मण धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म का सच्चा प्रतीक भी है। कालिदास के व्यक्तितत्त्व को उसके युग से अलग करके देखने मे भ्रान्ति हो सकती है। कालिदास की कला तथा उसके कलाकार के व्यक्तितत्व को उसके युग के परिपार्श्व में देखना एक निष्पक्ष आलोचक के लिए नितान्त आवयश्यक हो जाता है।

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्णकाल' कहा जाता है। एक तरह से इस काल को यह उपाधि देना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि गुप्तकाल में मौर्यो के बाद सर्वप्रथम समस्त उत्तरी भारत को 'एकतापत्र' की छाया में लाया गया। तथा अन्य सभी छोटे राजाओं को जीतकर उन्हें करद स्वीकार कर लिया गया, पर उनकी मेदिनी का हरण नहीं किया गया।[1] गुप्त सम्राज्य में भारत की आर्थिक दशा अत्यधिक उन्नत थी। कृषि अत्यधिक उन्नतशील थी तथा राजा भूमि की उत्पत्ति का षठांश कर के रूप में ग्रहण करता था। गुप्तकाल में नागरिकों का जीवन अधिक सुखी तथा विलासमय था। समाज के नैतिक स्तर को उन्नत करने के लिए दण्ड, प्रयाश्चित आदि के विधान का सङ्केत किया गया। यद्यपि इस काल का नैतिक आन्दोलन धर्मसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों को ही आधार बनाकर चला था, फिर भी कुछ ऐसे परिवर्तन पाये जाते है जो इस काल के निश्चित धार्मिक तथा नैतिक ढांचे का सङ्केत कर सकते है। मौर्यो ने

[1] संस्कृत कवि दर्शन पृ0-60

स्वयं गणतन्त्रों को समाप्त करने में हाथ बँटाया था तथा रहे-सहे गणतन्त्रों का नाश कर राजतन्त्र के उन्नायक गुप्तों ने 'गणरि' की उपाधि धारण की थी। राजतन्त्र की धारणा गुप्तों के समय तक अत्यधिक मजबूत हो गयी थी। इस काल तक भारतीय संस्कृति एक नय रूप धारण कर चुकी थी। द्रविड़ों की शिवपूजा तथा यक्षों एवं गन्धर्वो की वृक्ष-पूजा भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी थी। इस काल में काव्य-कला को अधिक प्रश्रय मिला। काव्य के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र आदि का भी इस काल में प्रणयन तथा विवेचन तीव्र गति से पाया जाता है।

इस प्रकार गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्वलन्तमय काल है, जिसमें एक ओर समाज का नैतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्तर उन्नत दिखायी देता है तो दूसरी ओर कला, काव्य शास्त्र और विज्ञान की उन्नति। इस काल की युग चेतना अपने काव्यों में प्रतिबिम्बित करने में कालिदास पूर्णतः सफल हुए है।

**कालिदास का काल व जीवन-वृत्तः**

महाकवि कालिदास के जीवन तथा तिथि के विषय में विद्वानों के मतों में भिन्नता दृष्टिगोचर होता है। उनके जीवन तथा काल के विषय में निश्चित मत न बन पाने के कई कारण है-1. कालिदास ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। 2. कालिदास के नाम की कई किंवदन्तियां तथ कृत्रिम रचनाएं जुड़ गयी है। 3. संस्कृत साहित्य में बाद में चलकर कालिदास नाम न रहकर उपाधि हो गया है। कालिदास के जीवन के विषय में हम कुछ नहीं जान पाते है। किंवदन्तियां उन्हें मूर्ख बताती है तथा काली के प्रसाद से किस प्रकार वे महान कवि बने इसका संकेत देती है। कुछ किंवदन्तियां उन्हें विक्रम की सभा के नवरत्नों में से एक

बताती है तो कुछ भोजदेव का दरबारी कवि मानती है। ठीक यही बात कालिदास के जन्म स्थान के विषय में है। महाकवि के जीवन और उनकी भारती का गुणगान करने में जितनी उत्सुकता विद्वानों को रही है शायद उतनी किसी अन्य कवि में नही। उनको कुछ ने बंगाली, कुछ ने काश्मीरी और कुछ ने मालवा-निवासी सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी ईसवी तक विभिन्न तिथियों में उनकी काल सीमाओं को रखा गया है।

पं0 चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार कालिदास आम्रकूट के आस-पास के थे, खास उज्जयिनी नही। जैसा कि कुछ लोग मानते है। उज्जयिनी से उनको केवल लगाव अवश्य था।

कालिदास के तिथि के विषय में कई मत रहें है जिनमें से प्रमुख मतों की चर्चा यहाँ पर उल्लेखित है जो निम्न है।-

**1. छठी शताब्दी का मत:**

फर्ग्युसन, डॉ0 हार्नली आदि विद्वानों ने कालिदास को छठीं शती ईसवी का मानने का खण्डन करते हुए लिखते है कि कालिदास मालवराज यशोवर्धन के समकालीन थे जो छठी शती हूणों पर विजय प्राप्त की थी। ये लोग अपने मत के पक्ष में रघुवंश के चतुर्थ सर्ग से रघुदिग्विजय में हूणों का वर्णन उपस्थित करते है।

**2. ई० पू० प्रथम शताब्दी का मत:**

इस दूसरे मत को मानने वाले ई0पू0 प्रथम शताब्दी का मानते है। भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार कालिदास का सम्बन्ध मालवराज विक्रमादित्य नामक राजा से था जो विद्याव्यसनी उदारचेता और कवियों आदि का

आश्रयदाता था। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि कालिदास ई0 पू0 प्रथम शताब्दी में विरजमान विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। उनके मत में विक्रमादित्य, शकों को परास्त कर विजय के उपलक्ष्य में मालवगणस्थिति संवत् चलाया, जो बाद में विक्रम संवत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मत की पुष्टि के लिए विद्धानों ने कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' में नाटक के नायक पुरूरवा के स्थान पर 'विक्रम' नाम प्रतिष्ठित किया है और नाटक में महेन्द्र शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है तथा शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा रघुवंश में कालिदास ने भगवान शङ्कर की वन्दना की है। विक्रमादित्य भी शैव थे। कालिदास ने अपने काव्यों में सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन किया है, विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे।

### 3. गुप्तकालीन अथवा चतुर्थ शताब्दी का मतः

इस मत के अनुसार कालिदास की स्थिति चतुर्थ शताब्दी में थी। भारतीय जनश्रुति के अनुसार 'कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' लेख के आधार पर तथा कालिदास के ग्रन्थों में अङ्कित 'विक्रम' पद के श्लेष के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि कालिदास किसी शकारि विक्रमादित्य के आश्रय में थे, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413ई0) तथा उसके पौत्र स्कन्धगुप्त दोनों ने ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। दो विक्रमादित्य की स्थिति होने के कारण यह मत दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक मत वाले कालिदास को स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (455ई0) का समकालीन मानते है। तथा दूसरे मत वाले कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413ई0 का आश्रित कवि मानते है। यह सर्वथा उचित मालूम पड़ता है।

अतः उक्त तथ्यों के आधार पर विक्रम सवंत के शकारि विक्रमादित्य (ई0 पू0 प्रथम शताब्दी) के आश्रय में कालिदास की स्थिति निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो जाती है।

**कालिदास की रचनाएंः**

कालिदास की कृतियां ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् है। इनमें प्रथम चार काव्य है, बाकी तीन नाटक है। विद्वानों का मत है कि कालिदास के काव्यों तथा नाटकों के सूक्ष्म अध्ययन पर पता चलता है कि कवि की प्रतिभा किस तरह कमशः अभिवृद्धि हुई है और उसकी कलात्मक परिणत के बीज प्रारम्भिक रचनाओं में ही दृष्टिगोचर होते है। ऋतुसंहार कवि की आरम्भिक रचना है यही कारण है कि कलात्मक प्रौढ़ता से रहित है। मेघदूत या कुमारसंभव की कलात्मक स्निग्धता का अभाव है। ऋतुसंहार के कुछ ही बाद की रचना मालिविकाग्निमित्र है।

कुमारसंभव, मेघदूत तथा विक्रमोर्वशीय कवि तरूणता का संकेत देते है कवि के जीवन के मध्यकाल के जान पड़ते है।रघुवंश तथा शाकुन्तल अन्तिमकाल की रचनाएं दृष्टिगोचर होती है।इनमें भी रघुवंश सम्भवतः सबसे अन्तिम रचना है। रघुवंश ही वह रचना है जिसमें कालिदास की युगचेतना पूर्णतः प्रतिबिम्बित मिलती है। आदर्श समाज के जो चित्र कालिदास ने रघुवंश में यत्र-तत्र संकेतित किये है। वे कालिदास की वर्णाश्रम धर्म की मान्यता को पुष्ठ करते है।

**कालिदास की काव्य कलाः**

कालिदास की कला रसवादी है। कालिदास कोमल रसों के सरस चित्रकार है। श्रृंगार प्रकृति वर्णन तथा विलासी नागरिक जीवन के चित्रण

में कालिदास संस्कृत साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखते है। कालिदास के श्रृंगार वर्णन अत्यधिक सरस है। प्रकृति वर्णन के सन्दर्भ कालिदास ने आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों तरह का रूप मिलते है। अलंकार के मामलों में कालिदास बहुत सावधान दिखते है। वे सबसे अधिक उपमा अलंकार का प्रयोग किये है। इसी से उपमा कालिदासस्य की उपाधि उन्हें मिली है। कालिदास वैदर्भी रीति के मूर्धन्य कलाकार है इनकी शैली अत्यधिक कोमल तथा प्रसाद गुण युक्त है।

इस प्रकार हम देखते है कि रस-प्रवणता अलंकारिक अप्रस्तुत-विधान प्रकृति वर्णन की बिम्बमत्ता शैली की व्यंजना प्रणाली तथा शब्दों की प्रसादयता, सभी कलावादी दृष्टिकोण से कालिदास की बराबरी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं कर पाता है। अतः कालिदास को कविताकामिनी विलास घोषित करना उचित ही है।

**2. अश्वघोषः**

कविता भावों की विशेष माध्यम होने के कारण मानव को अभीष्ठ कार्य में प्रवृत्त करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। कविता हृदय के ऊपर गहरी चोट करती है। इसलिए सामान्य जनता के हृदय तक दर्शन तथा धर्म के दुरूह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्म प्रचारक बहुत पुराने समय से कविता का सहारा लेते आये है और आज भी लेते है। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के काव्यकला की ओर आकर्षण का रहस्य यही है।

प्रियदर्शी अशोक के द्वारा एक ओर बौद्ध धर्म का भारत के बाहर वृहत्तर भारत तथा एशिया महाद्वीप में प्रचार-प्रसार किया गया। और दूसरी ओर बौद्ध भिक्षुओं की परिषद बुलाई गयी जो भारतीय इतिहास में तृतीय

संगीत के नाम दर्ज हुयी। जनता में प्रसार होने पर भी बौद्ध धर्म तेजी से तभी बढ़ सका, जबकि उसे राजाश्रय प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म की प्रचार-प्रसार की गति तेज तभी हो सकी। जब अशोक ने भगवान सुगत के पद चिह्नों पर चलना अपना लक्ष्य बनाया। बौद्ध धर्म के उन्नति का कारण दीनों के प्रति की गयी करूणा तथा भातृ-भाव था। बौद्ध धर्म में ब्राह्मण या वैदिक धर्म के अभिजात्य  का पर्दाफाश कर, जाति प्रथा, झूठे धार्मिक पाखण्ड आदि का आलवाल नष्ट कर सब जातियों को अपनी छाती से लगाया तथा परमसुख व शान्ति देना स्वीकार किया। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के उत्थान में उस काल की सामाजिक स्थिति बहुत कुछ सहायक हुई थी। इतना होते हुए भी बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म की जड़े न हिला सका, इसके कारण है, जिनमें कुछ सामाजिक स्थितियां, कुछ पौराणिक धर्म के गुण तथा कुछ बौद्ध धर्म निजी कमियां मानी जा सकती है।

प्रियदर्शी अशोक के बाद बौद्ध धर्म का जो प्रबल राजाश्रय मिला, वह कुशनवंश के प्रसिद्ध राजा कनिष्क का व्यक्तितत्व था। उसने बौद्ध भिक्षुओं, पंडितो और दार्शनिकों की सभा बुलाकर बौद्ध धर्म के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा को प्रश्रय दिया और अश्वघोष जैसे महान् कवि, दार्शनिक तथा पंडित के निरीक्षण में भगवान् बुद्ध के वचनों के ठोस दार्शनिक रूप देने में सहायता की। इस प्रवृत्ति के अङ्कुरों में अश्वघोष का दार्शनिक तथा कवि एक महत्वपूर्ण व्यक्तितत्व है।

**अश्वघोष का काल व जीवनवृत्तः**

संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम् कवियों में अश्वघोष हाथ की अंगुलियों पर गिने जाने वाले उन व्यक्तियों में से है। जिनके रचनाकाल

के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद नही है। बौद्ध ग्रन्थों ने अश्वघोष के विषय में आवश्यक जानकारी को सुरक्षित रखा है और यही नही, अश्वघोष के ग्रन्थों को मूल तथा अनुवाद रूप में सुरक्षित रखा है।

चीन में सुरक्षित परम्परा के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के गुरू थे। कुछ लोगों के मतानुसार अश्वघोष ही महायान सम्प्रदाय तथा माध्यमिक शून्यवाद के मूल प्रवर्तक थे। परन्तु इस विषय में विद्वानों के दो मत है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन थे यह महायान शाखा का दर्शन है। इसलिए कुछ लोगों ने अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय का प्रर्वतक मानकर उन्हें माध्यमिक शून्यवाद से भी सम्बन्ध कर दिया है। कुछ विद्धान अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय का अनुयायी मानने को भी तैयार नही तथा उनके मतानुसार महायान सम्प्रदाय का उदय अश्वघोष के समय तक न हुआ था तथा अश्वघोष के लगभग सौ वर्ष के बाद का है। इस मत के मानने वाले विद्वान प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ ''महायान-श्रद्धोपाद-संग्रह'' को अश्वघोष की कृति मानने के लिए तैयार नही है। जबकि इस ग्रन्थ के चीनी अनुवाद के आधार पर आंग्ल अनुवाद के उपस्थापक प्रो0 वी0 सुजुकी के मतानुसार इस ग्रन्थ के रचयिता अश्वघोष का महायान सम्प्रदाय के विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसकी पुष्टि अश्वघोष के काव्यों में भी हो जाती है।

इनके जन्म स्थान के विषय में विद्वानों का मत है कि अश्वघोष सुवर्णाक्षी के पुत्र थे तथा इनका जन्म स्थान साकेत(अयोध्या) था। ये आर्य, महापंडित, महावादिन तथा महाराज आदि विरूदों से अलंकृत थे। सौन्दरानन्द महाकाव्य की पुष्पिका तथा बुधचरित के अनुपलब्ध मूल के तिब्बती अनुवाद के आधार पर डॉ0 जोन्स्टन कृत आंग्ल अनुवाद की

पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे साकेत निवासी थे तथा उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था।[1]

अश्वघोष के काल के बारे में विद्वानों का मत है कि अश्वघोष नागार्जुन से लगभग दो पीढ़ी पुराने होगें तथा इस तरह उनका समय कनिष्क के राज्यकाल के समीप ही आता है। इस आधार पर यह भी सिद्ध होता है अश्वघोष कनिष्क के समकालिक थे, तथा उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी है। अश्वघोष के इस काल के विषय में अन्य अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाण भी दिये जा सकते है। जो निम्न है- 1. यह कि ईसा की पाँचवी शती में बुद्धचरित का चीनी 'अनुवाद' हो चुका था। अतः इससे पूर्व अश्वघोष का काव्य अत्यधिक लब्ध प्रतिष्ठित हो चुका था। 2. बुद्धचरित महाकाव्य का अन्तिम 18वाँ सर्ग अशोक की संगीत का वर्णन करता है। फलतः अश्वघोष अशोक के पश्चात् भावी थे। 3. यह कि अश्वघोष तथा कालिदास की शैलियों की तुलना से पता चलता है कि अश्वघोष की कला कालिदास की कला की भूमि तैयार करती है तथा अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास का अत्यधिक स्निग्ध सौन्दर्य, अश्वघोष की प्राग्भाविता को पुष्ट करते है। 4. बौद्ध परम्परा के अनुसार महाकवि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। 5. अश्वघोष कृत शारिपुत्र-प्रकरण के आधार पर प्रो0 ल्यूडर्स ने यह कल्पना की है कि उसकी रचना कनिष्क या हुविष्क के समय हुयी थी। 6. मातृचेट की 'शतपञ्चाशिका' की शैली अश्वघोष की शैली से स्पष्टतः प्रभावित जान पड़ती है। विद्धानों के मतानुसार मातृचेट कनिष्क के समकालीन था।

---

[1] संस्कृत कवि दर्शन, पृ0-34

अतः अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी के पूवार्ध में (1-50 ई0) सामान्यतः माना जाता है।

**अश्वघोष की कृतियांः**

महान् व्यक्तियों की पूजा व उनके प्रति आदार भाव प्रत्येक देश की विशेषता रही है भारत इसके लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है और कभी-कभी यह प्रवृत्ति अत्युक्तिपूर्ण हो जाती है, कि पुराने ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ इतनी किंवदन्तियां जोड़ दी जाती है, की सत्यता का सूर्य हिरण्पात्र से ढक जाता है, बहार की चमाचम भर रहती है जो दर्शक को केवल अभिभूत कर रह जाती है। हर्ष की बात है कि अश्वघोष पर यह कृपा उस हद तक न हुई पर वे भी इससे न बच पाये।अश्वघोष की कृतियों का उल्लेख प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग  (7वी शती) ने किया है तथा यह परम्परा आज भी चीन में सुरक्षित है। अश्वघोष के शुद्ध बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों ''महायान-श्रद्धोत्पाद-संग्रह'', ''वज्रसूची'', ''मण्डीस्तोत्र-गाथ'' तथा ''सूत्रालंकार'' प्रसिद्ध है। परन्तु ये चारो ग्रन्थ विवाद के विषय बने हुये है।

अश्वघोष की सन्देहहीन साहित्यिक रचनाएं मुख्यतः तीन ही है- 1. बुद्धचरित 2. सौन्दरानन्द और 3. शारिपुत्र-प्रकरण। इनमें प्रथम दो महाकाव्य है अन्तिम नाटक है। बुद्धचरित तथागत के निर्मल साहित्यिक जीवन का सरल तथा सरस विवरण है तो ''सौन्दरानन्द'' गौतम बुद्ध के ही सौतेले अनुज सुन्दरानन्द के प्रव्रज्या-ग्रहण का वर्णन है। शारिपुत्र प्रकरण भी बुद्ध के पट्टशिष्य शारिपुत्र के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का नाटकीय विवरण है। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थों की प्रेरणा एक ही मूल स्रोत है। तथागत के जीवन तथा उनके धर्मतत्वों की सरस तथा हृदयार्वक शैली में आस्तिक

जनता के हृदय तक पहुँचने की भव्य तथा स्तुत्य भावना। इन तीनों में केवल सौन्दरानन्द ही पूरे रूप में मूलसंस्कृत में उपलब्ध है। बुद्धचरित का केवल आधा भाग ही मूलसंस्कृत में मिलता है और शारिपुत्र-प्रकरण के कतिपय अधूरे पृष्ठ ही। इसमें शान्त रस का प्राधान्य है। कुछ पात्र जैसे बुद्ध और उनके शिष्य तो ऐतिहासिक पात्र है। परन्तु अन्य पात्र अमूर्त तत्वों के प्रतीक है जैसे-बुद्ध, कीर्ति तथा धृति आदि। इस प्रकार अश्वघोष प्रतीक नाटक के भी आद्य प्रवर्तक या प्रतिष्ठाता माने जा सकते है।

**अश्वघोष की काव्य-कला :**

काव्य के सम्बन्ध में अश्वघोष की धारणा निश्चित रूप से ठीक वही नही जान पड़ती, जो कालिदास की या भारवि, माघ और श्रीहर्ष की है। कालिदास शुद्ध रसवादी कवि है। भारवि तथा उनके दोनों कवि साथी निश्चित रूप से चमत्कारवादी या कलावादी है। अश्वघोष को इन खेमों में नही रखा जा सकता है। उनका काव्यात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से उपदेशवादी या प्रचारवादी है। वे काव्यानन्द को, रस को साधन मानते है। तभी तो अश्वघोष अपने काव्य की रचना का एक मात्र लक्ष्य 'शान्ति' मानते है। तथा बौद्ध धर्म के मोक्षपरक सिद्धान्तों सामान्यबुद्धि व्यक्तियों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते है। अश्वघोष ने बताया है कि मोक्ष का लक्ष्य मानकर इन सिद्धान्तों को काव्य के व्याज से इसलिए वर्णित किया जा रहा है कि काव्य सरस होता है। दर्शन या उपदेश कड़वा होता है। कड़वी औषधि शहद में मिला देने पर मीठी हो जाती है इसी तरह कड़वा उपदेश भी काव्य के आश्रय से मधुर बन जायेगा।

शैली की दृष्टि से अश्वघोष की शैली आदि कवि की शैली की तरह सरल व सरस तथा उन्हीं की तरह अश्वघोष भी अनेक छन्दों का

प्रयोग करते हुए अनुष्टुप का प्रयोग अधिक करते है, जो कालिदास के दोनों महाकाव्यों में अश्वघोष जितना ज्यादा प्रयुक्त नही हुआ है।

**संस्कृत महाकाव्यों में अश्वघोष की परम्परा :**

अश्वघोष का स्थान निश्चित रूप से संस्कृत महाकाव्यकारों के पहली पंक्ति में नही आ पाता, जिसमें एक ओर रसवादी कालिदास, दूसरी ओर अलंकारवादी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष इन चार कवियों का नाम लिया जा सकता है। किन्तु अश्वघोष का अपना एक अलग महत्त्व है जिसके बारे में बताया गया है। अश्वघोष में ही सर्वप्रथम हमें कुछ काव्य रूढ़िया मिलती है, जिनका प्रयोग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक मिलता है। अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। कवि एक विशेष उद्देश्य से तत्व ज्ञान से हटकर कोमल काव्य कला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। बुद्ध चरित के तीसरे सर्ग में वनविहार के लिए जाते हुए राजकुमार देखने के लिए लालायित ललनाओं का वर्णन अश्वघोष की स्वयं की उद्भावना न भी हो किन्तु यह परम्परा सर्वप्रथम यही मिलती है। और यही परम्परा कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष आदि में भी देखने को मिलती है।

अतः संस्कृत साहित्य की महाकाव्य परम्परा के अध्येता के लिए अश्वघोष का महत्व इसलिए नही है कि वे कवि थे अपितु इसलिए भी है कि कालिदास कवियों की कवित्व-प्रतिभा के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण सोपान है।

### 3. महाकवि भारवि :

कालिदास की कला में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो समन्वय, महाकाव्य के इतिवृत्त की जो अवहेलना पायी जाती है। वह कालिदास के पश्चाद्भावी कवियों में धीरे-धीरे मिटती गयी। और कोरा कलापक्ष इतना बढ़ गया कि महाकाव्य नाममात्र की दृष्टि से महाकाव्य रह गया। मानव जीवन का जो विस्तृत सर्वांगीण चित्र महाकाव्य के लिए आवश्यक है, वह यहाँ लुप्त हो गया। महाकाव्य केवल पांडित्य एवं कला प्रेमियों के लिए प्रदर्शन के क्षेत्र रह गये।

भारवि, भट्टि, माघ तथ श्रीहर्ष इन चारों कवियों में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन काव्यों में महाकाव्य की 'रूढ़ि' शैली दिखाई पड़ती है, जिसमें इतिवृत्त और कथा-संविधान को आधार बनाकर काव्य-कला का सुन्दर ताना-बाना बुनना ही कवियों का चरम लक्ष्य रह गया। भामह तथा दण्डी ने अपने अलंकार ग्रंथो में महाकाव्य के जो लक्षण तथा विशेषताएं बतायी है, बाद के कवियों में वे विशेषताएं अधिक रूढ़ रूप में पायी जाती है। भामह तथा दण्डी की परिभाषा इन पिछले खेमों के काव्यों के आधार पर बनायी गयी थी। सम्भवतः भारवि के 'किरातार्जुनीय' के आधार पर ही भामह तथा दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण निबद्ध किया हो, और बाद के काव्यों के लिए वह पथ प्रदर्शक बन गया हो।

इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों में भारवि एक नई शैली, एक नई प्रवृत्ति को जन्म देने वाले है। इसी पद्धति पर कम या अधिक रूप में भट्टि, कुमारदास (जानकीहरण के कवि), माघ, रत्नाकर आदि के काव्य चलते दिखाई पड़ते है। कालिदास के कला के रूप में हमें काव्य का

चरम परिपाक उपलब्ध होता है। उसे गुप्तकाल के वैभवशाली काल का प्रतीक माना जा सकता है। गुप्तों के ह्रास के साथ भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बट जाता है। भारतीय समाज निश्चित पौराणिक तथा नैतिक साँचे में ढल चुका था, शास्त्रों के प्रणयन ऐहिक और पारमार्थिक समस्याओं का समाधान करने लगा।

भाषा की कलात्मकता, अर्थालंकार, शब्दालंकार और प्रहेलिकादि काव्यों के द्वारा राज वर्ग, सामन्त तथा पंडित मनोरंजन करते थे। और उस काल के अभिजात वर्ग विलासी जीवन कामशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेकर काव्यों में भी प्रतिबिम्बित हो रहा था। कालिदास के काव्यों में ही इन विशेषताओं के बीज ढूढ़े जा सकते है। गर्हित-चित्र-काव्यों का प्रणयन कालिदास के समय में ही चल पड़ा होगा। कालिदास और भारवि के बीच निश्चित रूप से 150 वर्ष का समय माना जा सकता है। इस बीच काव्य के कला पक्ष को अधिक से अधिक कृत्रिम सौन्दर्य प्रदान करने की अभिरूचि ने कवियों की नयी दिशा में प्रेरित किया होगा। कालिदास तथा भारवि के बीच काव्यों का पता नहीं है, केवल वातास भट्टि का मन्सौर शिलालेख ही इस बीच की कड़ी का उपलब्ध प्रमाण है।

कलिदास की काव्यसरणि से हटकर काव्य की विषय-वस्तु की अपेक्षा वर्णन-शैली के सौन्दर्य, भावपक्ष की ओर ध्यान न देकर कहने के ढंग पर महत्व देने की प्रणाली का सर्वप्रथम प्रोढ़ रूप जिस काव्य में मिलता है वह महाकवि भारवि का किरातार्जुनीय है।

**भारवि का समय तथा जीवनवृत्तः**

कालिदास की भांति ही भारवि के समय तथा जीवनवृत्त के विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। कुछ किंवदन्तियां भारवि

को भी भोज के साथ जोड़ देती है। तो कुछ के अनुसार भारवि पिता से रूष्ट होकर ससुराल चले गये थे। जहाँ वे जंगल में जाकर गाय चराने का काम किया करते थे। किंवदन्तियों के अनुसार ही भारवि, दण्डी के पितामह अथवा प्रपितामह थे। सम्भवतः भारवि दक्षिणात्य थे और इसी कारण दण्डी के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया हो। भारवि का उल्लेख ऐहोल शिलालेख में मिलता है। जो 634 ई0 में उत्कीर्ण हुआ था। इसके अतिरिक्त भारवि के किरातार्जुनीय का उद्धरण वाम तथा जयादित्य की 'काशिक वृत्ति' में उपलब्ध होता है। भारवि कालिदास से प्रभावि है तथा माघ, भारवि से प्रभावित रहे है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारवि का समय छठी शती के मध्य रहा होगा। भारवि बाणभट्ट के पूर्व थे। बाणभट्ट ने भारवि का उल्लेख, सम्भवतः इसलिए नहीं किया होगा कि उनके समय तक भारवि की काव्य कला ने इतनी ख्याति और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की होगी। भारवि के सयम को 550 ई0 के लगभग मानने का अनुमान करते समय हम सत्य से अधिक दूर नहीं माने जा सकते। भारवि के जीवन के बारे में हम कुछ भी नही जान पाते है। अवन्ति सुन्दरी कथा के अनुसार वे पुलकेशिन द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। किन्तु कुछ विद्वान इसकी प्रमाणिकता पर विश्वास नहीं करते है।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्तिसुन्दरी के कथा के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के सहवास से जान पड़ता है ये राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है- कालिदास तथा भातृमेठ की भाँति भारवि की भी

उज्जयिनी में परीक्षा ली गयी थी, जिसमें उत्तीर्ण होने पर इनकी ख्याति बढ़ी थी।

इस प्रकार भारवि के समय के बारे कुछ निश्चित न होते हुए भी यह अनुमान लगाया जाता है कि भारवि 550 ई0 के आस-पास या पञ्शती के मध्यकाल के होगें।

**भारवि का ग्रन्थ :**

भारवि की अमरता जिस काव्य पर आधारित है, वह सुप्रसिद्ध 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य जो महाभारत के एक सुप्रसिद्ध आख्यान के ऊपर आश्रित है। वह आख्यान वन पर्व के कैरात पर्व, अ0 38-41 है। द्युतक्रीड़ा में हारकर युधिष्ठर द्वैत-वन में रहते थे। दुर्योधन की शासन-प्रणाली देखने के लिए उन्होंने वनेचर को भेजा। भीम और द्रोपदी ने युधिष्ठर को युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया, परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़ समर छेड़ने की बात किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान् वेदव्यास भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठिन तपस्या की। गाण्डीव के बल से प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर ने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपतास्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

किरात में 18 सर्ग है जिसमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है परन्तु बीच में कई सर्गो में भारवि ने महाकाव्य के कथानक के अनुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त तथा जलक्रीडा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरद ऋतु, पंञ्चम सर्ग हिमालय पर्वत, षष्ठ सर्ग युवति प्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना विहार तथा नवम् सुर-सुन्दरी-सम्भोग के

वर्णन में लगाये गये है। किरात में प्रधान रस वीर है। श्रृंगार रस भी गौण रूप से वर्णित किया गया है। वह मुख्य रस का अंगभूत ही है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है। तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द आया है। भारवि ने ''मगलान्तानि शास्त्राणि प्रयन्ते'' के अनुसार अन्त में मंगलार्थ 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है।

**भारवि की काव्य-कला :**

इससे पहले हम भारवि की काव्य-प्रतिभा पर कुछ चर्चा करें, काव्य के सम्बन्ध में भारवि के स्वयं के मत को जान लें। भारवि कलापक्ष के कवि है। परन्तु कलापक्ष में भी उनका अधिक ध्यान माघ की तरह शब्द तथा अर्थ दोनों की गम्भीरता पर नही रहता, मालूम पड़ता है। न नैषध के यशस्वी कलावादी की तरह प्रौढ़ोक्ति की लम्बी उड़ान, पदलालित्य और परीरम्भक्रीडा पर ही। भारवि में ये भी आते है परन्तु भारवि इन्हें गौण मानते है। उनका विशेष ध्यान अर्थ-गाम्भीर्य पर रहा है। इसीलिए पुराने पण्डितों ने ''भारवेरर्थगौरवम्'' कहा था। भारवि शब्दों की कृत्रिमता के चक्कर में नहीं दिखते। इनकी शब्द-क्रीड़ा केवल पाँचवे तथा पन्द्रहवें सर्ग में मिलेगी। भारवि श्लेष के शौकीन है, परन्तु माघ या श्रीहर्ष की तरह नहीं। उनका कला सम्बन्धी सिद्धान्त यही जान पड़ता है कि काव्य के पद प्रयोग में अस्पष्टता न हो, अर्थगाम्भीर्य पर खास तौर पर ध्यान दिया जाय, वाणी के अर्थ में पौनरूक्त्य न होने पाये और अर्थ-सामर्थ (अपेक्षा) को कुचल न दिया जाय।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारवि की प्रमुखता वर्णनात्मक तथा तार्किक प्रसंगो में विशेष है, लयसमन्वित गीति-काव्योचित माधुर्य का उनमें अभाव है। वे हिमालय के वर्णन में तथा राजनीतिक

समस्याओं के तार्किक समाधान में जितने समर्थ है, उतने किसी कोमल भावों की अभिव्य्ञ्जना में नही। अलंकृत पदावली का विन्यास भारवि का निजी क्षेत्र असंशसय तथा चमत्कारी वैशिष्टय है।

### 4. महाकवि भट्टि :

भारवि में कालिदासोत्तर काव्य की पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रवृत्ति और कलात्मक सौष्ठव का एक पक्ष दिखायी देता है, तो भट्टि में दूसरा। भारवि मूलतः कवि है जो अपनी कविता को पण्डितों के अभिरूचि के अनुरूप सजाकर लाते है। भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा अलङ्कारशास्त्री है, जो व्याकरण और अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों को व्युत्यिपत्सु सुकुमारमति राजकुमारों तथा भावी काव्य मार्ग के पथिकों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते है। कालिदास रसवादी कवि है, तो भारवि कलावादी कवि, अश्वघोष दार्शनिक उपेदशवादी कवि है, तो भट्टि व्याकरण-शास्त्रोपदेशी कवि। इस दृष्टि से देखने पर ही हम भट्टि के कार्य की प्रशंसा कर सकते है। भट्टि के काव्य का लक्ष्य निश्चत रूप से व्याकरणशास्त्र के शुद्ध प्रयोगों का सङ्केत करना है।

गुप्तों के पतन के बाद पाटलिपुत्र तथा अवन्ती का साहित्यिक महत्व अस्त हो गया था। संस्कृत साहित्य के विकास काल के अन्तिम दिनों में संस्कृत साहित्य के केन्द्र वलभी तथा कान्यकुब्ज थे। वलभी का केन्द्र कुछ दिनों तक प्रदीप्त रहा, किन्तु कान्यकुब्ज केन्द्र की परम्परा बाण से लेकर श्रीहर्ष तक अखण्ड रूप में पायी जाती है। वलभी के राजा पण्डितों के आश्रयदाता थे। भट्टि ही नहीं, भट्टि से लगभग पचास साल बाद में होने वाले माघ भी सम्भवतः वलभी के राजाओं के ही आश्रित थे। वलभी गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर गुजरात के राजाओं की

राजधानी थी। गुजरात की साहित्यिक परम्परा भट्टि से लेकर हेमचन्द्र ही नही, बाद तक अखण्ड रूप से चलती आयी है।

भट्टि के काल में प्राकृत भाषाओं का साहित्य समृद्ध होने लग गया था। भट्टि से पहले ही प्रवरसेन का सेतुबन्ध महाकाव्य लिखा जा चुका था। और भट्टि स्वयं आपने काव्य निबन्ध में उससे प्रभावित रहे है। प्राकृत भाषाओं की समृद्धि से निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य को विशेषत: संस्कृत व्याकरण को ठेस पहुँच रही थी। संस्कृत साहित्य के महा–समुद्र में प्रविष्ट होने के लिए व्याकरण ज्ञान की तरी के बिना काम नही चल सकता था। भट्टि ने इस बात को खूब पहचाना था और सुकुमारिमति छात्रों को सम्भवत: वलभी के राजा श्रीधरसेन के पुत्रों को काव्य के द्वारा व्याकरण के शुद्ध प्रयोगों को सिखाने के ढंग का आश्रय लिया होगा। राजकुमारों को संस्कृत सिखाने का ढंग बाद के कई कवियों और पण्डितों ने अपनाया है।12वीं शती के आरम्भ में काशीराज गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को उस काल की देशभाषा के द्वारा संस्कृत की शिक्षा देने के लिए दामोदर ने ''उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्'' की रचना की थी। भट्टि ने दामोदर से उल्टा ढंग भी अपनाया है। जहाँ दामोदर कोसली के द्वारा प्राकृत सिखाने का ढंग भी अपनाते है, जो भट्टिकाव्य के त्रयोदश सर्ग के भाषासमप्रयोग से स्पष्ट है। व्याकरण को लक्ष्य बनाकर चलने वाले काव्यों में अन्य काव्य भी पाये जाते है, वासुदेवचरित प्रसिद्ध है। वासुदेव कृत वासुदेवचरित धातुपाठ के अनुसार सभी धातुओं का तत्तत् लकारगत प्रयोग बताने के लिए इस अन्तिम काव्य की रचना की थी।

**भट्टि का समय तथा जीवनवृत्त :**

केवल भट्टिकाव्य के अन्तिम पद्य से कवि के जीवन का स्वल्प संकेत मिलता है। सरलता से व्याकरण सिखालाने के लिए निर्मित भट्टिकाव्य के लेखक महाकवि भट्टि के पूरे जीवचरित का परिचय पाना नितान्त दुष्कर है।

महाकवि भट्टि स्वयं बताते है कि भट्टिकाव्य (रावणबध) की रचना राजा श्रीधरसेन की राजधानी बलभी में की गई थी। राजा श्रीधरसेन प्रजाओं का कल्याण करने वाले थे, अतः उनकी कीर्ति प्रसारित हो। वलभी के ये भट्टि वाले श्रीधरसेन कौन थे इसका निर्णय करना इतना सरल नही है, क्योकि शिलालेखों से पता चलता है कि बलभी में श्रीधरसेन नाम वाले चार हो चुके है। श्रीधरसेन प्रथम का काल 500 ई0 के लगभग है, तो श्रीधरसेन चतुर्थ का 650 ई0 के लगभग है। भट्टि किस राजा के सभापण्डित थे, इसका थोड़ा सङ्केत मिलता है।एक शिलालेख में श्रीधरसेन द्वितीय द्वारा किसी भट्टि नामक विद्वान को कुछ भूमि दान में देने का उल्लेख है। क्या ये भट्टि कवि तथा 'रावणबध' काव्य के कवि एक ही है? इन्हें एक मानने में कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता, किन्तु यह सम्भव हो सकता है। इसे मान लेने पर भट्टि का समय सातवीं शती का प्रथम पाद (610-615 ई0 के लगभग) सिद्ध होता है। इस प्रकार भट्टि को बाण से एक पीढ़ी (20-25 वर्ष) पूर्व का माना जा सकता है।

भट्टि के जीवनवृत्त का वास्तव में कुछ पता नहीं चलता है। यह माना जाता है कि भट्टि गुजराती या श्रीमाली ब्राह्मण थे और श्रीधरसेन के सभा पण्डित ही नहीं, राजकुमारों के गुरू भी थे। अनेक विद्वानों का मानना है कि भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के ही है इनका समय 470 ई0 से

500 ई0 तक है और इसी काल को श्रीधरसेन का अविर्भाव मानना नितान्त उपयुक्त है।

**भट्टि कृत ग्रन्थ :**

भट्टिस्वामी का ग्रन्थ उन्हीं के नाम पर भट्टिकाव्य कहलाता है। इसे रावण-बध भी कहते है। यह महाकाव्य 20 सर्गो में समाप्त हुआ है, इसमें 3624 पद्यो का मनोहर संनिवेश किया गया है। इस महाकाव्य में मर्यादापुरूषोत्तम रामचन्द्र की जीवन-घटनाओं का वर्णन है। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरञ्जन के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। पातञ्जल-महाभाष्य में उदधृत कतिपय पद्यांशो से कई लोगों ने यह अनुमान निकाला है कि महर्षि पतञ्जलि के समय में भी ऐसे 'वैयाकरण काव्यों' का उद्भव हो चुका था। भट्टिस्वामी ने पूर्व विद्वानों के द्वारा अनभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया। भट्टि का पद चयन स्वतन्त्र नही है, प्रत्युत वह शब्दशास्त्र की कारा में बद्ध है। उन्मुक्त वातावरण की आशा उनसे करना व्यर्थ है। परन्तु अपने चुने हुए मार्ग में निःसन्देह शास्त्रकवियों के मार्गदर्शक और आदर्श है।

**भट्टि की काव्य-कला :**

महाकवि भट्टि से सहृदय आलोचक सन्तुष्ट नही हो सकता है। भट्टि कवि है, किन्तु इस दृष्टि से वे भारवि से भी निम्न सिद्ध होते है। यह कि भट्टि में कवि हृदय है नही, ऐसा निर्णय देना मूर्खता होगी। भट्टि के पास कुछ कवि-हृदय अवश्य है, और जहाँ वे व्याकरण की तङ्ग गली से निकलकर बाहर आते है, तो उनमें कभी-कभी काव्य के दर्शन होते है। भट्टि काव्य के द्वितीय सर्ग का वन वर्णन तथा एकादश

सर्ग का प्रभातवर्णन भट्टि के प्रति निर्णय देने में सहायता कर सकते है। दशम सर्ग का यमक वर्णन इतना शास्त्रीय है कि वहाँ काव्यत्व लुप्त हो गया है। भट्टि काव्य का रस वीर है तथा प्रसंगवश श्रृंगार भी पाया जाता है। भट्टि की शैली में प्रवाह का अभाव है। भट्टिकाव्य में बहुत कम छन्दों का प्रयोग पाया जाता है। अधिकार तथा तिडन्त काण्ड वाले व्याकरण सम्बन्धी सर्गो में भट्टि ने केवल अनुष्टुप का प्रयोग किया है, जबकि प्रकीर्ण सर्गो में उन्होंने उपजाति, रूचिरा, मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

**समीक्षा :**

भट्टिकाव्य यद्यपि व्याकरण ज्ञान को लक्ष्य में रखकर रचा गया है। फिर भी यह नही भूलना चाहिए कि यह काव्य ही नही महाकाव्य है, व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। अतः महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निवेश कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है। भट्टि में वक्तृत्वशाक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टिकाव्य के कतिपय पात्रों के भाषण है।

भट्टिकाव्य संस्कृत की उस महाकाव्य-परम्परा का संकेत करता है, जिसमें महाकाव्यों के द्वारा व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है। भट्टि के बाद भट्ट भौम या भूमक(भूम) ने 'रावणार्जुनीय' काव्य में रावण और कार्तवीर्य की कथा के द्वारा पाणिनी के सिद्धान्तों का प्रदर्शन किया था। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी 'कुमारपालचरित' काव्य के द्वारा अपने व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन किया और बाद में वासुदेव के ''वासुदेवचरित'' तथा नारायणभट्ट के 'धातुकाव्य' में भी यही परम्परा पायी जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है कि महाकाव्य परम्परा के विकास में भट्टि का महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

**5. महाकवि माघ :**

महाकवि कालिदास से भावतरलता, भारिव से कला प्रवीणता तथा भट्टि से व्याकरण पाण्डित्य, तीनों का ही समन्वितरूप लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। माघ, भारवि से भी अधिक कलाबाज है तथा भट्टि से किसी तरह कम विद्वान (वैयाकरण) नहीं है। किन्तु जितने वे कलाबाज और विद्वान है, उसी अनुपात में कालिदास की भावतरलता से रहित है। भारवि और भट्टि से निःसन्देह माघ में भावपक्ष का पलड़ा भारी है। पर कालिदास के आगे माघ का हृदयपक्ष नीचा दिखायी पड़ता है।

फिर भी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में माघ का स्थान निश्चित है।माघ ने भारवि की कला को और अधिक अलंकृत तथा प्रौढ़रूप में रखा है। श्रीहर्ष जैसी कोरी दूर की कौड़ी माघ में कम मिलती है। श्रीहर्ष में पदलालित्य है, पर माघ में भी पदलालित्य की कमी नही है। वैसे माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पाञ्चाली रीति वाला पदलालित्य न होकर प्रायः गौड़ी वाले विकटबन्ध या गाढबन्ध का पदलालित्य है।

माघ तथा भारवि में सौ साल का अन्तर है, तो भट्टि और माघ में केवल पचास वर्ष का अन्तर है, पितामह सुप्रभदेव भट्टि के समसामयिक रहे होगें। माघ के काव्य को हम हर्षवर्धनोत्तर काल (647 ई0 –1250 ई0) के जिसे संस्कृत साहित्य का 'ह्रासोन्मुख-काल' कहा जाता है। काव्यों का पथप्रदर्शक ही नहीं, सर्वोत्तम काव्य कह सकते है। माघ के

काव्य में हमें समाज के अभिजातवर्ग का विलासी जीवन, राजाओं का पारस्परिक कलह, कहीं अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देता है जो वर्धन–साम्राज्य के पतन के बाद का मानचित्र देने में पूर्ण समर्थ है। माघ का काव्य, भारवि से अधिक कृत्रिम है। यदि माघ के रसिकों को 'कृत्रिम' शब्द का प्रयोग खटके तो अलंकृत कहा जा सकता है। किन्तु दोनों में यहीं ध्वनि निकलती है कि माघ संस्कृत साहित्य के कलावादी कवियों में मूर्धन्य है।

माघ के समय में गुजरात के राजाओं तथा चित्रकूट के मौर्यो में ही प्रमुख संघर्ष था, और मौर्य माघ के समय तक कुछ शक्तिशाली थे। गुजरात के राजाओं के साथ इनकी मुठभेड़ भी हुई होगी, सम्भवतः अरावली के उपत्यकाओं में ही।माघ भी कई बार इन युद्धों में गये होगें और रैवतक पर्वत के बहाने माघ ने सेना की अरावली पर्वत की यात्रा का ही वर्णन किया जान पड़ता है। माघ स्वयं भी दक्षिणी पार्वत्य प्रदेश के निवासी थे। युद्ध के लिए जाने वाले राजा लोग सेना के साथ अन्त:पुरिकाओं के डोले भी ले जाते होगें। माघ का पञ्चम एकादश तथा द्वादश सर्ग का सेना प्रयाण और रैवतक पर्वत पर डाले गये पड़ाव का वर्णन माघ का स्वानुभूत वर्णन जान पड़ता है। क्योंकि इस वर्णन में कई स्थान पर माघ में स्वाभावोक्ति का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। जो माघ के पूरे काव्य में अन्यत्र अत्यन्त दुलर्भ है। यदि यह मान लिया जाय कि यहाँ कृष्ण अपनी सेना के साथ राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने जा रहे है। फिर भी माघ की इस कल्पना का संकेत हम उस काल की राजनीतिक परिस्थितियों में ढूढ़ते है। हाथी, घोड़े, रथ आदि के जमघट का जो सम्मर्द पञ्चम तथा द्वादस सर्ग में मिलता है। वह राज्य के साधारण समारोहों का

नहीं हो सकता, निश्चित रूप से सेना प्रयाण का वर्णन है। काल्पनिक वर्णन नही बल्कि अपनी आंखो देखा वर्णन है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि माघ उस काल के अभिजात वर्ग की, सामन्त वर्ग की, सामाजिक दशा को देने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होते है।

**महाकवि माघ का काल व जीवनवृत्त :**

माघ के दादा सुप्रभदेव किसी धर्मनाभ के राजा के मंत्री थे। सम्भवतः धर्मनाभ या तो वलभी के राजा थे या उनके सामन्त होगें। सुप्रभदेव के पुत्र दत्तक थे और दत्तक के पुत्र माघ थे। माघ निश्चित रूप से धनी थे, और उनका शैशव और यौवन विलासपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ था। इसके प्रमाण माघ के उत्तेजक विलास वर्णन है। माघ सम्भवतः श्रीमाली ब्राह्मण थे, और राजस्थान के पार्वत्य प्रदेश डुगरपुर बाँसवाड़ा के निवासी थे। माध के जीवन-वृत्त के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है। यहाँ यह कह देना अनावश्यक न होगा कि भारवि की तरह माघ भी दरबारी कवि थे।

माघ ने स्वयं अपने पिता, पितामह तथा पितामह के आश्रयदाता राजा का वर्णन किया है। इसी के आधार पर माघ के समय-निरूपण के लिए एक सन्देहहीन प्रमाण उपलब्ध होता है। आनन्दवर्धन ने शिशुपालवध के दो पद्यों का ध्वन्यालोक में उदाहरण के लिए उदधृत किया है। फलतः माघ आनन्वर्धन से प्राचीन है। एक शिलालेख से इसका यर्थाथ ज्ञान होता है। बसन्तगढ़ नामक किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत् 682 अर्थात् 625 ई0 है। शिशुपालबध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। धर्मनाम, वर्मनाम, धर्मलात, आदि अनेक पाठ भेद

पाये जाते है। भीनमाल के आस-पास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से वर्मलात को सही मानकार इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को यर्थाथत: अभिन्न मानते है। अत: सुप्रभदेव का समय 625 ई0 के आस-पास है।अत: इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग 650 ई0 से 700 ई0 तक होगा अर्थात माघ का अविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्ध मानना उचित है।

**महाकवि माघ का ग्रन्थ :**

माघ की कीर्ति केवल एक ही महाकाव्य 'शिशुपालवध'' पर ही अवलम्बित है। श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि नरेश शिशुपाल के वध का संगोपांग वर्णन है। यही 'शिशुपालवध' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। इसका प्रेरणा स्रोत मुख्यतया श्रीमद्भागवत है, गौणरूप से महाभारत है। वैष्णव के ऊपर भागवत अपना प्रभाव जमाये था। फलत: उसी के आधार पर कथा का विन्यास है। सर्गो की संख्या 20 तथा श्लोकों की संख्या 1650 है। द्वारका में श्रीकृष्ण के पास नारद पधार कर दुष्टों के वध के लिए प्रेरणा देते है। प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जाने के लिए बलराम तथा उद्धव द्वारा मन्त्रणा द्वारा निश्चिय किया जाता है। तीसरे सर्ग में महाकाव्य के पूरक विषयों का वर्णन आरम्भ होता है। चौथे सर्ग में कृष्ण के रैवतक निवास आदि का वर्णन है। इस प्रकार श्रीकृष्ण और शिशुपाल के साथ द्वन्द युद्ध का वर्णन 20 सर्गो में निष्पन्न होता है। इस विषय पर आपातत: दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि लघुकाय वृत्त को परिवृहित कर महाकाव्यत्व के निर्वाह के लिए माघ ने आठ सर्गो की योजना (4-11सर्ग) आपनी प्रतिभा के बल पर की है। अलंकृत महाकाव्य की यह आदर्श कल्पना महाकवि माघ का संस्कृत साहित्य को

अविस्मरणीय योगदान है, जिसका अनुसरण तथा परिवृहण कर हमारा काव्यसाहित्य समृद्ध, सम्पन्न तथा सुसंस्कृत हुआ है।

**माघ की काव्य-कला :**

संस्कृत भारती के महाभागवत् कवि माघ ने अपने महाकाव्य के कथा वस्तु को श्रीमद्भागवत् के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। माघ की काव्यशैली अलंकृत शैली चूडान्त दृष्टान्त है। जिसका प्रभाव अवान्तर कवियों के ऊपर बहुत अधिक पड़ा। माघ परिष्कृत पदविन्यास के आचार्य है। इनके काव्य में समासों की बहुलता, विकट वर्णो की उदारता, गाढ़बन्धों की मनोहारता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है। माघ में कथा के कलेवर तथा प्रासंगिक वर्णनों का सन्तुलन नही मिलता, जो प्रबन्धकाव्य के लिए जरूरी होता है। माघ के काव्य का अंगी रस वीर है, और श्रृंगार रस इसका अंग बनकर आया है। परन्तु श्रृंगार रस, वीर रस अधिक दबोच दिया है। अलंकारों के प्रयोग में माघ अत्यधिक कुशल है, वे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। माघ श्लेष के बड़े शौकीन दिखते है। छन्दों के प्रयोग में माघ, भारवि तथा कालिदास से भी अधिक कलावादी है।

माघ एक महान कवि थे। उनका ज्ञान हिन्दू दर्शन, नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ठ था। माघ ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान कविता-कामिनी को अर्पित कर दिया।

इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व माघ का है। माघ को हम अलंकृत शब्दों का उद्भावक कह सकते है।

## 6. मातृचेट :

मातृचेट के जीवनवृत्त के बारे में जो बातें अब तक सामने आयी है। उनमें से केवल एक ही निःसंदिग्ध घटना का पता चलता है और वह है इनकी महाराज कनिष्क की समकालीनता।[1] कनिष्क ने बौद्धधर्म के दिव्य उपदेशों की शुश्रुषा से जब मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया, तब अत्यन्त वृद्ध होने के कारण कवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की और बौद्ध धर्म के मान्य सिद्धान्तों का विवरणमय पद्यात्मक पत्र कनिष्क के पास भेजा। 85 पद्यों का लघु काव्यमय यह "महाराज कणिकालेख" आज भी तिब्बती भाषा में अनुदित होकर सुरक्षित है। करूणा से पूर्व पद्यों से कवि ने राजा को अन्त में उपदेश दिया है कि तेरा कर्तव्य है कि वन्य पशुओं को अभयदान दे तथा शिकार करना छोड़ दे। कुछ विद्धान मातृचेट को अश्वघोष और नागार्जुन से पश्चातवर्ती मानते है और इनके समकालीन राजा कनिष्क को कनिष्क द्वितीय बतलाते है।

**कृति :**

अपने दो स्त्रोतग्रन्थों के कारण बौद्ध जगत में ये 'स्तुतिकार' की महनीय ख्याति से मण्डित है। ये दोनों 1. वर्णार्हवर्णस्तोत्र 2. अध्यर्धशतक है। पहला ग्रन्थ चार सौ पद्यों में निबद्ध स्तुतिकाव्य है। सम्भवतः इसी से प्रेरणा प्राप्त कर नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक-कारिका' को तथा उनके विख्यात शिष्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' को चार सौ पद्यों में लिखा था। जैन ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्र की बीस विशिकाओं का भी यही आधार ग्रन्थ प्रतीत होता है।  साक्षात् रूपेण न सही, परम्परया प्रेरणा का मूल

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-176, बलदेव उपध्याय

स्रोत मातृचेट का ही स्तुतिकाव्य प्रतीत होता है। इसका तिब्बती अनुवाद आज भी प्राप्त है।

दूसरा ग्रन्थ डेढ़ सौ अनुष्टुपों में निबद्ध बुद्धस्तव मातृचेट की सर्वप्रधान रचना है। जिसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय हमें इसके अनुवादों से ही लग सकता है।चीनी तथा तिब्बती में अनुदित होने के अतिरिक्त मध्य एशिया की 'तोखारी' भाषा में भी इसके अनुवाद का अवशेष इसकी महती ख्याति का पर्याप्त परिचायक है। 13 विभागों में विभक्त तथा 153 अनुष्टुप पद्यों से युक्त यह स्तुतिकाव्य अवान्तर कालीन कवियों को प्रेरणा देनो वाला था। इसका अनुसरण स्वयं आचार्य दिङ्गनाथ ने किया। जैन सम्प्रदाय के अनेक आचार्यो ने इस काव्य के आधार पर नवीन स्तुतियों का प्रणयन किया। समन्तभद्र का 'स्वयंभूस्तोत्र' तथा हेमचन्द्र की 'वीतरागस्तोत्र' मातृचेट के आदर्श तथा आधार पर नि:सन्देह निर्मित हुए है। मातृचेट तथा हेमचन्द्र के पद्यों में तो घनिष्ट भावसाम्य है। सरल शब्दों में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति दोनों स्तोत्रों में समभावेन आदृत की गयी है।

**समीक्षा :**

इस स्तुतिकाव्य की भाषा नितान्त सरल, आडम्बरहीन और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कवि ने इसमें तथागत के अध्यात्मिक जीवन की झांकी आरम्भ से उसकी पूर्णता तक बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में दी है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कवि के हृदय की सरलता, सच्चाई तथा भावग्राहिता का चित्र हमें मन्त्रमुग्ध कर देता है। बौद्ध आचार्यो तथा जैनियों को स्तुतिकाव्य लिखने की प्रशस्त प्रेरणा देने के कारण हम मातृचेट को 'स्तुति काव्य का जनक' मान सकते है। अश्वघोष की प्रसिद्धि ने मातृचेट

की ख्याति को इतना ढक लिया कि मातृचेट का व्यक्तित्व ही अभावकोटि में गिना जाने लगा था तथा दोनों की एकता भी चीनी परम्परा में सिद्ध मानी जाने लगी परन्तु दोनों समकालीन होते हुए भी भिन्न थे इसमें कोई सन्देह नही है।

## 7. आर्यशूर :

बौद्धजातकों को भी साहित्यिक शैली में लोकप्रिय बनाने वाले बौद्ध कवि आर्यशूर अश्वघोष के अनुकरण-कर्ता माने जा सकते है। इनके जीवन की घटनाओं के अपरिचय के कारण अश्वघोष की तथा इनकी अभिन्नता मानी गयी है।परन्तु दोनों नितान्त भिन्न व्यक्ति है। अश्वघोष की काव्यशैली से प्रभावित होना ही दोनों की अभिन्नता का कारण माना जा सकता है। इनके मुख्य काव्य-ग्रन्थ 'जातकमाला' की ख्याति भारत से बाहरी बौद्ध जगत में कम न थी। अजन्ता की दीवारों पर जातकमाला के शान्तिवादी, मैत्रीबल, शिवि आदि जातकों के दृश्यों का अङ्कन तथा तत्तत् जातकों के परिचयात्मक श्लोकों का उदृङ्कन निश्चय ही इनकी प्रसिद्धि तथा अविर्भाव का सूचक है। आर्यशूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्र लिखा था। जिसका चीनी अनुवाद 434 ई0 में हुआ। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से भी इनका समय पञ्चम शतक में निश्येन सिद्ध होता है। अतः इनका समय 350 ई0 से 400 ई0 तका निर्धारित किया जा सकता है।

### ग्रन्थ :

इनके तीन ग्रन्थों की उपलब्धी तिब्बती अनुवाद में ही होती है।इनके मूल संस्कृत की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। इनके नाम है-

1. प्रगतिमोक्षसूत्र-पद्धति 2.बोधि-सत्त्वजातक धर्मगण्डी तथा 3. सुपथनिर्देशपरिकथा। दिव्यावदानके ऊपर भी आर्यशूर का प्रभाव लक्षित होता है। अभिनन्द कवि ने "विशुद्धोक्ति शूर:" कह कर विशद्ध संस्कृत भाषा की शैली के लिए इनकी जो प्रशंसा की है वह जातकमाला के परिशीलन से यर्थाथ प्रतीत होता है।

इनकी कीर्ति का स्तम्भ है जातकमाला। जिसमें 34 जातकों का सुन्दर काव्यशैली तथा भव्य साहित्यिक भाषा में वर्णन है। इनके कुछ जातक तो पालिजातकों के आधार पर है, परन्तु अन्य जातक प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर ही आश्रित है। बौद्ध कथाओं का काव्यात्मक रोचक आख्यान शैली में अवतारण आर्यशूर का मुख्य कार्य है।

**समीक्षा:**

पालिजातक बौद्ध कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उन्हीं में से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं का यह संस्कृत अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। पालिजातक की शैली-वर्णन प्रधान है। घटनाओं का सीधे-सादे शब्दों में कह डालना ही उनका उद्देश्य हैं। परन्तु गद्य-पद्यात्मक आख्यान शैली में निबद्ध जातकमाला काव्यगुणों से ओत-प्रोत है। इसकी शैली प्रसादमयी है। कथा के मार्मिक स्थानों का उद्घाटन इसकी विशिष्टता है। मानव हृदय पर आघात करने वाले तथा आवर्जन करने वाले भावसन्तानों का भव्य विवरण देने में आर्यशूर किसी कवि से पीछे नही है। शैली की स्निग्धता, पदावली की मसृणता, भाषा की प्रसन्नता की आर्यशूर अश्वघोष के नि:सन्देह समकक्ष माने जा सकते है।

## 8. कुमारदासः

उस कराल काल को हम किन शब्दों में कोसे, जिसने साहित्य जगत में लब्धवर्ण कुमारदास के कमनीय कल्पना-प्रसूत महाकाव्य 'जानकीहरण' को आकाल में कवलित कर रखा था। कि वह अनेक वर्षो के विपुल प्रयास से अभी-अभी सम्पूर्ण रूप से हमारे सामने आया है। कुमारदास के रूचिर पद्यो का उद्धरण सूक्ति ग्रन्थों में ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत कोश ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ तथा अलंकार-ग्रंथ में अनेक वैयक्तिक जीवन, पद्यखण्डों तथा काव्य-वैशिष्टयों का पर्याप्त संकेत मिलता है।

'जानकीहरण' की पर्याप्त प्रसिद्धि कविगोष्ठी में निःसन्देह थी। बीस सर्ग वाले समग्र जानकीहरण का नागराक्षसों में प्रकाशन का श्रेय 1966 ई0 में प्रयाग को मिला। इससे पूर्व 1891 ई0 लंका के विद्यालंकार कालेज के प्राचार्य धर्माराम स्थविर ने शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद सहित सिंघली लिपि में 14 सर्ग, 15वें सर्ग के आदिम 22 पद्यों को सम्पादित-प्रकाशित किया था। उसी के आधार पर जयपुर के पं0 हरिदास शास्त्री ने 1893 में कलकत्ते से नागराजक्षरों में इसे प्रकाशित कराया। बड़ी खोज के बाद प्रयाग के प्रतिष्ठित पं0 ब्रजमोहन व्यास जी ने हिन्दी अनुवाद के साथ सम्पूर्ण 20 सर्गो को सम्पादित कर संस्कृतज्ञों का बड़ा उपकार किया है।अब अनुशीलन के लिए यह महाकाव्य सुलभ हो गया।

### कुमारदास का समय तथा जीवनवृत्तः

काव्य के भीतर कवि का नाम कहीं भी उपलब्ध नही है। ग्रन्थ के अन्तिम चार पद्यों से कुमारदास के विषय में एक फीकी जानकारी मिलती

है। कवि के पिता का नाम मानित था, जो विद्धान होने अतिरिक्त वीर योद्धा भी थे और लंकाधिपति कुमारमणि के सेनानी थे।

कवि के एक मातुल का नाम मेघ तथा दूसरे मातुल का नाम अग्रबोधि था। ये दोनों बड़े ही सूरवीर थे। इन दोनें मातुलों ने दुहमुहे बच्चों को पैदा होने के समय से अपने पुत्र की तरह बड़े लाड़-प्यार से पाला पोसा। क्योंकि कवि पिता युद्ध में वीरगति प्राप्त कर चुके थे। और कवि जन्म से व्याधिग्रस्त थे। बड़े होने पर कवि अपने मातुलों की सहायता और प्रेरणा से इस काव्य का प्रणयन किया। इससे स्पष्ट है कि कुमारदास लंकाधिपति नही थे। प्रत्युति लंकाधिपति कुमारमणि के आश्रित एक वीर तथा विद्वान कुल में पैदा हुए।

इनके समय का पता बहिरंग एवं अंतरंग साक्ष्य के आधार पर किया जा सकता है। जानकीहरण के प्रथम सर्ग के 17वें श्लोक में कटाह का अधिपत्य, 18वें श्लोक में काञ्जी में सार्थवाहों का जमघट होना, 19वें में यवनों के राजा यवनेन्द्र का पराजय, 20वें में तुरूष्क के राजा का पतन वर्णित है। सन्दर्भ से पता चलता है कि कटाह दीप पर आधिपत्य करने वाला राजा काञ्ची से सम्बद्ध था। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मा (610-640 ई0) का पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन प्रथम (640-668 ई0) अपने पराक्रम के कारण पल्लव राजाओं में सर्वश्रेष्ट तेजस्वी शासक था अन्तः जानकीहरण की स्थिति षष्ट शती के पूर्वार्ध में मानना अनुपयुक्त न होगा।

**कुमारदास कृत ग्रन्थः**

जानकीहरण कुमारदास की एक मात्र रचना है। इस महाकाव्य में 20सर्ग है। यह रामायणी कथा को लेकर लिखा गया है। पहले सर्ग में आयोध्या, राजा दशरथ उनकी महारनियों का वर्णन किया है। दूसरे सर्ग में

ब्रह्म से सहायता माँगते समय रावण के चरित्र का वर्णन करते है। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है चतुर्थ तथा पञ्चम सर्गो में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते है। और रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु बध की कथाये है। षष्ठ सर्ग में राम-लक्ष्मण को साथ लिए विश्वामित्र जनकपुर पधारते है और जनक से उनकी भेट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में राम सीता का श्रृंगार वर्णन है। नवम् में सभी भाई अयोध्या लौटते है। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते है। रामचन्द्र यौवराज्यभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएं घटती है। सर्ग की समाप्ति के पहले ही जानकीहरण हो जाता है। इसी प्रकार अगले सर्गो में वर्णन करते हुए 17वें से 20वें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। राम विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

**समीक्षा:**

कुमारदास भारवि और माघ के अन्तरालवर्ती युग के प्रतिनिधि कवि है। महाकवि कालिदास के अनेक शताब्दियों के अनन्तर संस्कृत काव्य शैली में एक विशिष्ट परिवर्तन सामने आया। कुमारदास उसी युग के कवि थे। फलतः कालिदासीय वैदर्भी के प्रशंसक होने के बावजूद युग प्रकृति को अवनतेन शिरसा उन्होंने स्वीकार किया और ऐसे काव्य का प्रणयन किया जिसमें कवि के अनुराग का दोनों प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक हाने पर भी विचित्र मार्ग ने उन्हें अपना परमाराधक भक्त बनाया। कोमल भावों के चित्रण में, मधुर पदावली के विन्यास में, तथा हृदय में गुदगदी पैदा करने वाली कल्पना के सर्जन में वे स्पष्टतया संलग्न दीखते है।

9. रत्नाकरः

महाकाव्यों की उन्नत प्रणयन-परम्परा में महाकवि माघ के बाद रत्नाकर का स्थान आत है। किन्तु रत्नाकर की कविख्याति पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा कुछ धुँधली प्रतीत होती है। रत्नाकर काश्मीरी थे। उनके पिता का नाम अमृभानु था। रत्नाकर काश्मीरदेशीय 'बालवृहस्पति' का विरूद धारण करने वाले नरपति चिप्पट जयापीड (779-813)के सभा पण्डित थे। काश्मीर के विद्याप्रेमी एवं विद्वत्सेवी राजाओं में जयापीड का स्मरणीय स्थान है। 'राजतरंगिणी' में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को महर्षि कश्यप ने फिर से काश्मीर में प्रकट किया था, उसी प्रकार सम्पूर्ण विद्याओं के उद्‌भवस्थल उस काश्मीर देश में विलुप्त प्राय विद्याओं को जयापीड राजा ने पुनरूज्जीवित किया था।

रत्नाकर ने विपुल ज्ञान तथा गुणाग्राही आश्रयदाता के साथ-साथ दीर्घ आयु भी प्राप्त की थी। उनकी कवित्वकीर्ति का प्रकाश महाराजा अवन्ति वर्मा (885-884 ई0) के समय में हुआ, जिसकी सूचना इतिहासकार कल्हण देते है। अपने महाकाव्य का प्रणयन इन्होंने अवन्तिवर्मा के ही समय में किया। इनके महाकाव्य का नाम 'हरिविजय' है। इसमें 50 सर्ग एवं 4320 के लगभग श्लोक है। संस्कृत के महाकाव्यों में सर्वाधिक वृहत्काय होने से इस महाग्रन्थ का अपना विशिष्ट स्थान है। महाकवि माघ के व्यक्तित्व को रत्नाकर की यह कृति एक परोक्ष चुनौती थी। वृहत्काय की अद्‌भुत विशेषताएं समेटे हुए है। इसमें शैवदर्शन, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, इतिहास, पुराण, नाट्य, संगीत, अलंकारशास्त्र और चित्रकाव्य प्रभृति अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। अपने इस प्रबन्ध ग्रन्थ के सम्बन्ध में महाकवि का यह कहना है कि 'वह महाकवियों का प्रणम्य, बालकवि का निर्देशक और

कवि को महाकवि की श्रेणी में पहुँचा देने वाला महाग्रन्थ है'' इसका मात्र इतना ही मतलब है कि ग्रन्थ का परिचय प्राप्त हो जाय।

**10. अभिनन्दः**

अभिनन्द के कवित्व की ख्याति संस्कृत साहित्य में प्रर्याप्त रूप से उपलब्ध होती है। परन्तु उनका 'रामचरित' महाकाव्य अभी हाल में प्रकाशित होकर आलोचकों के सामने आया। सूक्ति-सग्रहों, कोश की टीकाओं तथा अलंकार ग्रन्थों में उनके नाम का संकेत तथा इनके श्लोकों का उद्धरण अनेक स्थलों पर मिलता है। सारङ्गधर-पद्धति तथा सदुक्तिकर्णामृत (र0का01203ई0) में अभिनन्द के अनेक पद्य उद्धृत है जिनमें से कतिपय रामचरित में उपलब्ध है। उज्जवलदत्त ने उणादिसूत्र वृत्ति में सर्वानन्द ने अमरकोश टीका में और भोजराज ने (11शती) श्रृंगार प्रकाश तथा सरस्वती-कंठभरण में अभिनन्द के पदों को उद्धृत किया तथा सोडढल ने अपनी उदयसुन्दरीकथा (11वी शती का प्रथमार्ध) में अभिनन्द का अनेक बार उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि 11वीं शती से पहले ही अभिनन्द नामक कवि की सत्ता थी तथा उनके कमनीय पद्य अपने सौन्दर्य तथा लालित्य के कारण भिन्न-भिन्न सूक्ति ग्रन्थों में उद्धृत किये गये थे। अभिनन्द का दूसरा नाम ''आर्याविलास'' या केवल 'विलास' भी मिलता है। अभिनन्द नामक दो कवियों का पता इतिहास में चलता है।

'कादम्बरी-कथासार' के रचयिता अभिनन्द ने स्पष्ट परिचय दिया है। अभिनन्द पिता जयन्तभट्ट तो प्रख्यात न्यायग्रन्थ 'न्यायमञ्जरी' के रचयिता है तथा प्रपितामह शाक्तिस्वामी कश्मीर नरेश ललितादित्य मुक्तापीड के मंत्री थे। 'रामचरित' महाकाव्य का भी सम्बन्ध गौण देश से है। इसलिए

गौणभिनन्द के नाम से भी कहीं-कहीं उल्लिखित है। इन्होंनें अपने को 'शतानन्दि' नाम से उल्लिखित किया अर्थात इनके पिता का नाम शतानन्द था। अनेक आलोचक दोनों कवियों को अनेक बातों में साम्य होने के हेतु अभिन्न व्यक्ति मानते है।परन्तु दोनों के कुल की भिन्नता दोनों की भिन्नता का बलवान प्रमाण है।दोनों का पितृनाम भी भिन्न है। रामचरित के कर्ता के पिता का नाम शतानन्द था। तथा कादम्बरी-कथासार के प्रणेता का पितृनाम 'जयन्त' था। यह भिन्नता भी ध्यान देने योग्य है।

अपने आश्रयदाता की स्तुति में अभिनन्द ने शोभन पदों को अपने काव्यों में निर्दिष्ट किया है। इनका आश्रयदाता हारवर्ष युवराज था। सम्भव है कि उनका राष्ट्रकूटों के नाम की समता वाला हारवर्ष घरेलू नाम तथा 'देवपाल' राजकीय नाम था। वे युवराज कहलाते थे परन्तु इन्होंनें स्वयं गौण देश पर शासन किया अभिनन्द का भी इस प्राकार अविर्भाव काल नवम् शतक का मध्य भाग ठहरता है।

रामचरित एक सरस महाकाव्य है। रामचरित की शैली विशुद्ध वैदर्भी है। प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का यहाँ साम्राज्य विराजता है। कालिदास तथा पद्मगुप्त परिमल के बीच में अभिनन्द ही रसमयी पद्धति के सुकुमार कवि है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अभिनन्द अनुष्टुप छन्द के सबसे बड़े रचयिता है। क्षेमेन्द्र का यह कथन रामचरित में पूर्णयतया चरितार्थ होता है।

**11. अमरचन्द्र सूरिः**

विस्तृत तथा विशाल महाभारत की विविध रसमयी कथा को काव्यमय शैली में संक्षेप में प्रस्तुत करना अपने आप में एक महनीय

साहित्यिक चमत्कार है और इसमें सफलता पाना प्रतिभाशाली कवि के ही सामर्थ्य की बात है। इस कार्य में महाकवि अमरचन्द्र सूरि ने 'बालभारत' की रचना कर निःसन्देह सफलता प्राप्त की। कवि अपनी प्रतिभा तथा आशुकवित्व के लिए विद्वद्गोष्ठी में प्रर्याप्त रूप से विश्रुत है। वे श्वेताम्बर मतानुयायी जैन महाकवि थे। गुजरात के चौलुक्य वंशीय नरपति बीसलदेव के सभाकवि। अत: उनका अविर्भाव काल 13वीं शती का पूर्वार्ध है।

अमरचन्द्र ने महाभारत के 18 पर्वो की कथा को 18 पर्वो में निबद्ध किया है और प्रत्येक प्रत्येक पर्व का विभाजन सर्गो में किया गया है सब मिलाकर सर्गो की संख्या 44 और श्लोकों की सात सहस्र के लगभग है। यह समग्र रूप से असाम्प्रदायिक काव्य है। जिसमें कवि ने मूल महाभारत के कथानक को बड़ी ईमानदारी के साथ काव्यमयी शैली में निबद्ध किया और वह कहीं भी जैन धर्म का स्पर्श नहीं करता है। कवि स्वयं ही इस 'वीराङ्क' काव्य को महाकाव्य की संज्ञा से विभूषित करता है और यह पौराणिक शैली को आत्मसात करने वाला मुख्यतया महाकाव्य है। अभिनव भावपूर्ण रस स्निग्ध वर्णन प्रस्तुत कर कवि ने अपनी नवोन्मेषमयी प्रतिभा का कमनीय विलास दिखलाया है। मूल कथानक को रूचिर तथा हृदयावर्जक बनाने की कविकामना अवश्यमेव सफल हुयी है।

### 12. भर्तृमेण्ठ:

महाकवि भर्तृमेण्ठ का नाम संस्कृत साहित्य में आदरणीय है। ये संस्कृत भाषा के एक बहुत ही अच्छे सुकवि थे। क्षेमेन्द्र विरचित सुवृत्त तिलक, मम्मट के काव्य प्रकाश तथा भोजराज के सरस्वतीकण्ठभरण, श्रृंगार-प्रकाश आदि अनेक रीति ग्रन्थों में इनके श्लोक पाये जाते है। सूक्ति-ग्रन्थों में इनकी बहुत सी सूक्तियां संरक्षित है। राघव भट्ट ने

शाकुन्तल नाटक की टीका में इनका एक श्लोक उद्धृत किया है। भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीव-वध' नामक महाकाव्य लिखा था। जो दुर्भाग्यवश अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। रीतिग्रन्थ तथा सूक्ति ग्रन्थों में जो पद्य पाये जाते है वे ही इनकी उपलब्धि रचनाएं है।

'हयग्रीव-वध'काव्य है या नाटक? भ्रान्तिवश इसे कुछ लोग नाटक मानते है परन्तु वस्तुतः यह महाकाव्य है। क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में अनुष्टुप से आरम्भ होने वाले महाकाव्यों में 'हयग्रीव-वध' का उल्लेख किया है तथा इसके आदिम श्लोक का निर्देश भी किया है अतः इसके महाकाव्य होने में कोई सन्देह नही है। भोजाराज ने भी महाकाव्य के दृष्टान्त में 'हयग्रीव-वध' के नाम का उल्लेख अपने श्रृंगार-प्रकाश में किया है। इस महाकाव्य की कभी भूयसी प्रशंसा तथा प्रतिष्ठा विद्यमान थी, परन्तु दुर्दैव से आज इसके कतिपय पद्य ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते है। राजशेखर ने मेण्ठ की सुक्तियों की उपमा 'सृणि' अर्थात अंकुश से दी है। इतना ही नहीं, राजशेखर भर्तृमेण्ठ को वाल्मीकि तथा भवभूति के मध्य विद्यमान सुदीर्घकाल का प्रतिष्ठत कवि तथा वाल्मीकि का अवतार माना है।

पद्यगुप्त परिमल ने अपने "नवसाहसांकचरित" में भर्तृमेण्ठ की काव्यशैली को स्पष्टतः वैदर्भी मार्ग माना है तथा इनकी बड़ी प्रशंसा की है। इन उल्लेखों से भर्तृमेण्ठ के अलौकिक प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है। परन्तु मम्मट की दृष्टि में इस काव्य में अनेक दोष दृष्टिगोचर होते है। विशेषतः अङ्गातिविस्तृति नामक रस दोष है। श्रृंगार-प्रकाश के कथानुसार इस काव्य के नायक है महादेव तथा प्रतिनायक हयग्रीव। नायक को छोड़कर हयग्रीव का ही विशेष वर्णन किया है। इसलिए इस दोष के

अभिर्भाव का प्रसंग उपस्थित होता है। परन्तु 'नाट्यदर्पण' के कर्ता रामचन्द्र की दृष्टि में यहाँ केवल 'वस्तुदोष' है। प्रत्युत वीर रस का यहाँ प्रकर्ष दृष्टिगोचर है। वध्य हयग्रीव के शौर्य, विभूति आदि के अतिशय वर्णन के द्वारा। तथ्य यह है कि जो नायक इतने प्रतापशाली तथा वीर्यसम्पन्न प्रतिनायक को मार डालने में समर्थ होता है। वह रस की दृष्टि से तो अत्यन्त प्रतिभाशाली सिद्ध होता है। निश्चय ही भतृमेण्ठ कश्मीर के प्राचीन कवियों के अलंकाररूप है।

कश्मीर में संस्कृत काव्य तथा उसकी आलोचना की उपासना प्राचीन काल से होती चली आयी है। इन प्राचीन काश्मीरी कवियों में भर्तृमण्ठ अन्यतम है। कल्हण अपनी राजतरंगणी में इनके आश्रयदाता मातृगुप्त (कश्मीर के तत्कालीन नरपति थे) के द्वारा इनके महनीय काव्य 'ह्यग्रीव-वध' के विशिष्ट सत्कार की घटना का उल्लेख किया है। मातृगुप्त के सभाकवि होने से इनका समय पञ्चमशतक का पूर्वार्ध माना जाता है।

**13. हेमचन्द्र :**

12वीं शताब्दी में रचित कुछ कम प्रसिद्ध महाकाव्यों में हेमचन्द्र, माधवभट्ट, चण्डकवि और बिल्वमंगल आदि के ग्रन्थें की प्रासंगिक चर्चा उल्लेखनीय है। हेमचनद्र (1088-1172ई0) अनहिलनाद (गुजरात) के राजा जयसिंह और उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल के आश्रित कवि थे। उन्होंने 'द्वयाश्रयकाव्य' और 'त्रिषष्टिशलाकापुस्पचरित' नामक दो महाकाव्यों की रचना की।

चालुक्य नरेश सिद्धराज जयसिंह (1092-1143ई0) की आज्ञा पर हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धहेम' का निर्माण किया था। इनका जनम

धुंधक (अहमदाबाद) में 1088 ई0 में हुआ था। इनका जन्म का नाम चांगदेव था। जब ये 1098 ई0 में जैन साधु हुए तब इनका नाम सोमदेव रखा गया और उसके बाद (1111 ई0) में इनका हेमचन्द्र नामकरण हुआ। ये बज्रशाखानुयायी देवचन्द्र के शिष्य थे। ये चालुक्य कुमारपाल राजा के बड़े श्रद्धालु थे। इस राजा का राज्यकाल 1142-1173ई0 था। इन्ही के समय हेमचन्द्र का स्वर्गवास हुआ।

जैन आचार्य हेमचन्द्र कृत ''त्रिषष्ठिश्लाकापुस्षचरित'' एक विशालकाय ग्रन्थ है। उसका कथाशिल्प महाभारत की तरह है। उसमें काव्यात्मता भी अधिक है। हेमचन्द्र ने उसको महाकाव्य कहा है। उसकी संवाद-शैली, उसके लोकतत्वों और उसमें अवान्तर कथाओं का समावेश उसकी पौराणिक शैली के महाकाव्यों की कोटि में ले जाते है। याकोबी साहब ने भी उसको रामायण-महाभारत की शैली में रचे गये एक जैन महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया है।

**14. वाग्भट :**

12वीं शताब्दी में ही जैनकवि वाग्भट ने 'नैमिनिर्वाण' महाकाव्य लिखा। वाग्भट नामक चार ग्रन्थकारों का उल्लेख श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में किया है। ये चार वाग्भट है- क्रमशः अष्टांगहृदय के कर्ता, नेमिनिर्माण के कर्ता, वाग्भटालंकार के कर्ता, और काव्यानुशासन ने कर्ता।

'नेमिनिर्माण' महाकाव्य के 15 सर्गो में जैन तीर्थकर भगवान नेमिनाथ का चरित वर्णित है। इस ग्रन्थ की कुछ हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिका से विदित होता है कि उसके कर्ता वाग्भट प्राग्वाट या परिवाटवंशीय छाहयु

(या बाहड़) के पुत्र थे और अहिछत्रपुर में पैदा हुए थे। यह अहिछत्रपुर वर्तमान नागोद का ही पुराना नाम था। वाग्भटालंकार में नेमिनिर्माण के कई उद्धरण है। वाग्भटालंकार की रचना 1179 वि0स0 में हो चुकी थी। इसलिए नेमिनिर्माण के रचयिता वाग्भट का समय इससे पूर्व होना चाहिए। कुछ इतिहासकारों ने इन्हें हेमचन्द्र का समकालीन माधुर्य एवं प्रसादगुणोयेत कविता का रचयिता बताया है। किन्तु निश्चित रूप से इनकी पूर्वावधि निर्धारित करने के लिए कोई पुष्ट प्रमाण हमारे पास नहीं है। इस महाकाव्य पर भट्टारक ज्ञानभूषण की एक 'पंजिका' टीका भी उपलब्ध है।

**15. महाकवि श्रीहर्ष :**

12वीं शताब्दी में लिखे गये महाकाव्यों की परम्परा का अवसान श्रीहर्ष के नैषधचरित में जाकर होता है। संस्कृत महाकाव्यों में माघ ह्वासोन्मुख काल के काव्यों के पथप्रदर्शक रहे है। माघ में हमने अश्वघोष और कालिदास की काव्यपरम्परा से विच्छेद देखा। और माघोत्तर काल के महाकाव्यों में यह विच्छेद अधिक से अधिक बढ़ता चला गया। माघ की कृत्रिम आंलकारिक शैली की ओर बाद के महाकाव्य जितने आकृष्ट हुए, उतने उनकी काव्यशैली की ओर नहीं।

माधोत्तर काल के महाकाव्यों में हम दो तरह के काव्य देखते है। एक कोटि के काव्य अमूलचूल चित्रकाव्य है। जिनमें नलोदय, युधिष्ठिर विजय आदि यमककाव्यों को तथा रावण पाण्डवीय, राघवनैषधीय जैसे श्लेषकाव्यों को लिया जा सकता है। इन चित्रकाव्यों में कविराज के 'राधवपाण्डवीय' ने विशेष ख्याति प्राप्ति की है। दूसरी कोटि के काव्यों में चरित काव्यों का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि चरितकाव्यों के अतिरिक्त अन्यकाव्य भी लिखे जा रहे थे, और चरितकाव्य, राजाओं से

संवद्ध न होकर पौराणिक इतिवृत्तों से सम्बद्ध थे। फिर भी इस काल में कवियों का ध्यान अपने आश्रयदाता और उसके वंश पर महाकाव्य लिखने की ओर भी जाने लगा था। सम्भवतः इस कोटि का प्रथम काव्य वाक्पतिराज का 'गउडबहो' माना जा सकता है। चरित काव्यों की परम्परा संस्कृत में 16-17वीं शती तक चलती रही है। माद्योत्तर काल के इन महाकाव्यों में पाण्डित्य-प्रदर्शन, कल्पना की उड़ान और श्रृंगार के विलासपूर्ण चित्रण के कारण जो काव्य अत्यधिक प्रसिद्ध हो सका, वह श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' है।

श्रीहर्ष के समय में उत्तरी भारत कई राज्यों में बँटा हुआ था। इन राज्यों में प्रमुख शक्तियां अजमेर व दिल्ली के चौहान, कन्नौज (या काशी) के गहड़वान या राठौड़, बुन्देलखण्ड के परमार और बंगाल के सेन थे। ये परस्पर लड़ा करते थे। श्रीहर्ष के आश्रयदाता जयचन्द्र का दिल्ली के पृथ्वीराज तथा बुन्देलखण्ड के परमारों से वैमनस्य था। इधर मुसलमानों के आक्रमण होते जा रहे थे और इसी काल में दिल्ली, कन्नोज तथा बंगाल को मुसलमानों ने जीत कर भारत में इस्लामी साम्राज्य की नीव डाली थी। राजाओं का परस्पर वैमनस्य और विलासिता ही उनके पतन का कारण बनी थी। वे वीर थे, किन्तु विलासिता ने उनकी वीरता को क्षुण बना दिया था। जयचन्द्र के पितामह गोविन्द चन्द्र के अन्तःपुर में 570 रानियाँ थी। बंगाल के सेन भी अत्यधिक विलासी थे। पृथ्वीराज वीर होते हुए भी कम विलासी न थे और यदि चन्द्र के पृथ्वीराजरासों में तनिक भी सत्यता हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि उनके कई रानियां थी। राजा ही नहीं, सामन्तों तथा सभासदों का, सभापण्डितों और कवियों का, समस्त अभिजातवर्ग का, जीवन इतना विलासी हो गया था कि वह समाज के

भावी अधपतन का साक्षात कारण माना जा सकता है। श्रीहर्ष का नैषधीयचरित उस काल के विलासी वातावरण के चित्रण में माध से भी अधिक बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता है। नैषधीयचरित का समाज हिन्दुओं की गिरती हुई दशा का चित्र देने में सहायक सिद्ध होता है।

**श्रीहर्ष का समय व जीवनवृत्त :**

श्रीहर्ष की तिथि के विषय में हम अन्धकार में नही है। श्रीहर्ष ने स्वयं यह बताया है कि वे काव्यकुब्जेश्वर के सभापण्डित थे। और इन्हें सभा में दो बीड़े पान दिये जाने का सम्मान प्राप्त था। विद्वानों का मानना है कि श्रीहर्ष काव्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र तथा उनके पुत्र जयचन्द्र के सभापण्डित थे। ये जयन्तचन्द्र ही इतिहास में जयचन्द के नाम से विख्यात है। जिनकी पुत्री संयोगिता का अपहरण महाराज पृथ्वीराज ने किया था। श्रीहर्ष के समय इनकी राजधानी कन्नौज न होकर काशी थी। यद्यपि ये कन्नौज के ही राजा कहलाते थे। विजयचन्द्र तथा जयन्तचन्द्र का राज्यकाल 1156ई0 से लेकर 1193 ई0 तक माना जाता है। अतः निश्चित है कि श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

श्रीहर्ष ने काव्य में अपने वैयक्तिक परिचय के विषय में लिखा है कि ये 'हीर' तथा मामल्लदेवी के पुत्र थे। किंवदन्तियों के अनुसार न्यायकुसुमांजलि के प्रसिद्ध लेखक नैयायिक उदयनाचार्य के साथ इनके पिता श्रीहीर का शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें वे परास्त हो गये। इस पराजय से लज्जित होकर श्रीहीर ने अपना शरीर त्याग दिया और मरते समय पुत्र से यह कहा कि वह उसके शत्रु को शास्त्रार्थ में हराकर इसका बदला ले। श्रीहर्ष ने पण्डितों से शास्त्रों का अध्ययन किया तथा त्रिपुर सुन्दरी की आराधना के लिए 'चिन्तामणि' मंत्र का एक वर्ष तक जप किया। इसके

बाद श्रीहर्ष ने अपने पिता के शत्रु उस पण्डित को देखकर एक पद्य पढ़ा। श्रीहर्ष के पाण्डित्य से झेंप कर वह पण्डित भी उनकी स्तुति करने लगा, और राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना सभापण्डित बना लिया।

**श्रीहर्ष की कृतियाँ :**

श्रीहर्ष ने नैषध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अपनी अन्य रचनाओं का संकेत किया है। इनमें स्थैर्याविचारप्रकरण, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, नवसाहसांकचरितचम्पू, शिवशक्तिसिद्धि और खण्डनखण्डखाद्य प्रसिद्ध है। इन रचनाओं में केवल अन्तिम रचना ही उपलब्ध है। जिसमें श्रीहर्ष ने न्यायिक तर्कशैली के द्वारा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना की है। शङ्करोत्तर वेदान्त के ग्रन्थों में खण्डनखण्डखाद्य का अत्यधिक आदर है। कहने को तो यह ग्रन्थ 'मिश्री का खाद्य' है पर दर्शन, विशेषतः दर्शन की नैयायिक शैली को न जानने वाले लोगों के लिए ये मिश्री के टुकड़े बड़े महगें है। जो अनभ्यस्त खाने वाले के दाँत भी तोड़ सकते हैं। श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित है।

इनकी ख्याति का मूल आधार नैषधीयचरित 22 सर्गो का बहुत बड़ा काव्य है। जिसके प्रत्येक सर्ग में 100 से ऊपर पद्य है। 18वे और 19वें सर्ग को छोड़कर जिनमें केवल 55 और 66 पद्य है। बाकी सभी सर्ग बड़े हैं कई में तो 150 के लगभग हैं। महाकाव्य के इस विशाल आलवाल को देखते हुए श्रीहर्ष ने नलचरित से सम्बद्ध जितनी सी कथा ली है, वह छोटी है। दमयन्ती तथा नल के प्रेम को लेकर उनके विवाह और विवाहोपरान्त क्रीड़ाओं आदि का वर्णन कर काव्य को समापत कर दिया

गया है। कुछ विद्वानों के मत के अनुसार नैषध में सौ सर्ग थे, किन्तु यह किंवदन्ती ही प्रतीत होती है।

**नैषध पर काव्य परम्परा का प्रभाव :**

श्रीहर्ष ने अपने काव्य का इतिवृत्त महाभारत से चुना है, किन्तु नल के समस्त इतिवृत्त को न चुनकर केवल उसकी कथा के 'प्रेमगाथा' वाले अंश को ही लिया गया है। किवंदन्तियाँ भले ही श्रीहर्ष की कृति को सौ सर्ग मानती रहें, किन्तु हमें जान पड़ता है कि कवि का इरादा काव्य को यहीं समाप्त कर देने का था। पर महाभारत की कथा को नैषध में तत्कालीन लोक साहित्य की प्रणय गाथाओं से मिश्रित कर दिया जान पड़ता है। श्रीहर्ष के काल में अपभ्रंश तथा देश-भाषा के काव्यों में कई लोक कथाओं की प्रणय गाथाएं स्थान पा रही थीं । नलदययन्ती की कथा पौराणिक होते हुए भी लोकादि रूप में भी प्रचलित थी। श्रीहर्ष को इन दोनों स्रोतों से प्रेरणा मिली ही होगी। यद्यपि श्रीहर्ष जैसे प्रकाण्ड पण्डित में, जिनका समाज अत्यधिक संकुचित था, लोक-साहित्य का प्रभाव श्रीहर्ष में ही सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है।

**श्रीहर्ष की काव्य-कला :**

श्रीहर्ष अपना काव्य कोरे रसिक सहृदयों के लिए न लिखकर, पण्डितों के लिए लिखा है। श्रीहर्ष मूलतः श्रृंगार-कला के कवि है। भारवि और माघ से भी दो कदम बढ़कर। दर्शनों के ज्ञान की भांति, वात्स्यायन का भी प्रगाढ़ अध्ययन करने के बाद कवि काव्य-प्रणयन में प्रविष्ट हुआ जान पड़ता है। श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के बड़े शौकीन है। नैषध का पदलाहलित्य निःसन्देह दमयन्ती की वाणीर की तरह 'श्रृंगारसुधाकर' है जो श्रोता के कर्णकूपों को आप्यायित कर देता है।

श्रीहर्ष अपनी रीति को वैदर्भी बताते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीहर्ष का काव्यों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

**ह्रास की स्थितियाँ :**

संस्कृत-साहित्य की सुदीर्घ महाकाव्य परम्परा की शैली, स्वरूप और समय की दृष्टि से हम प्रधान तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों का पहला उद्भव युग कालिदास के आगमन से पहले ही पूरा जो जाता है। जिसकी दिशाएं और संभावनाएं 'रामायण' तथा 'महाभारत' में पर्यवसित है। महाकवि कालिदास के उदय के साथ-साथ संस्कृत महाकाव्यों का दूसरा अभ्युत्थान युग आरम्भ होता है। जिसकी सीमा श्रीहर्ष तक पहुँचती है। श्रीहर्ष से पूर्व और कालिदास के बाद के ये द्वादश शतक समग्र संस्कृत-साहित्य की अभूतपूर्व एवं आशातीत उन्नति के परिचायक है।

महाकाव्यों के निर्माण की दृष्टि से इन द्वादश शतकों के बीच यद्यपि ऐसी कृतियाँ भी रची गयी, जिनका महत्व बहुत ही न्यून है। किन्तु उन बहुसंख्यक उच्चतम कृतियों की गणना के बीच इन अहेतुक कृतियों की छोटाइयाँ सर्वथा छिप जाती है। इस दृष्टि से यह युग अच्छी कृतियों के ही निर्माण का युग माना जाता है।

संस्कृत के महाकाव्यकारों में जो स्फूर्ति, आत्मप्रेरणा, अतुल-उत्साह और गति-गवेषण की तीब्रता श्रीहर्ष के समय तक बनी रही, आगे वह क्रमशः क्षीण होती गई। उनके बाद भी महाकाव्य का निर्माण होता रहा, किन्तु उनमें वह प्रवाह नही रहा। महाकाव्यों की इस परम्परा की पर्यवसिति सत्रहवीं शताब्दी में जाकर होती है। इतिहासकार विद्वानों ने जो सूचनाएं

संकलित की है। उनका सिलसिलेवार इस प्रकार बाँधकर उल्लेख किया जा रहा है–

**13वीं शताब्दी के महाकाव्य –**

पुरी के कृष्णानन्द ने 15 सर्गों में 'सहृदयानन्द', काश्मीरदेशीय कवि जयरथ ने 32 प्रकाशों में 'हरिचरितचिन्तामणि', जैनकवि अभयदेव ने 19 सर्गों में 'जयन्तविजय', अमरसिंह ने 11 सर्गों में 'सुकृतसंकीर्तन' की रचना कर 13वीं शताब्दी में महाकाव्यों की परम्परा का प्रवर्तन किया। राजा वीर धवल के अश्रित कविद्वय में सोमेश्वर ने तो 15 सर्गों में 'सुरथोत्सव' और अमरचन्द्र (अमरसिंह) ने 44 सर्गों में 'बालभारत' नामक दो महाकाव्यों की रचना की।

**14वीं शताब्दी के महाकाव्य –**

चौहानवंशीय राजा हम्मीर की प्रशंसा में नयनचन्द्र (1310ई0) ने 17 सर्गों में 'हम्मीरमहाकाव्य', मालावार निवासी वासुदेव कवि लगभग 21 काव्य लिखे, जिनमें 'युधिष्ठिरविजय' तथा 'नलोदय' प्रसिद्ध है। वारंगल के राजा प्रताप रूद्रदेव (1294–1335ई0) के आश्रित कवि अगस्त्य ने लगभग 74 काव्यकृतियों का निर्माण किया था। जिनमें से कुछ ही उपलब्ध है। इनका रचा हुआ 20 सर्गों का –बालभारत' नामक महाकाव्य अधिक प्रसिद्ध है। दक्षिणात्य कवि वेंकटनाथ वेदान्देशिक (1298–1369ई0) ने संस्कृत और तमिल भाषा में विभिन्न विषयों पर लगभग 120 ग्रन्थ लिखे थे । वेंकटनाथ ने 24 सर्गो का 'यादवाभ्युदय' महाकाव्य लिखा। जिस पर अप्पय दीक्षित (1600ई0) ने बाद में एक विद्वतापूर्ण टीका लिखी।

### 15वीं शताब्दी के महाकाव्य -

वत्सगोत्री कोमटि यज्वन् के पुत्र विद्यारण्य के शिष्य और अन्दकी के राजा प्रेद्दकोमटि वेयभूपाल (1403-1420ई0) के आश्रित कवि वामनभट्ट बाण ने 30 सर्गो में 'रघुनाथचरित' और 8 सर्गो का 'नलाभ्युदय' दो महाकाव्य लिखे। ये वामनभट्टा बाण गद्यकार बाणभट्ट से सर्वथा पृथक व्यक्ति हुए, कुछ इतिहासकारों की भ्रांतियों से जिनकों अभिन्न रूप में पहिचाना गया है। विजयनगर के राजाओं के आश्रित कवि राजनाथ द्वितीय 'डिंडिमकवि सार्वभौम' की उपाधि से अपने समय के स्वनामधन्य विद्वान थे। विजयनगर के राजाओं के वीर सेनापति साल्व नरसिंह के परम मित्र थे। इस सेनापति की प्रशंसा में राजनाथ ने 1430 ई0 के लगभग 13 सर्गो की एक महाकाव्य कृति 'साल्वाभ्युदय' के नाम से लिखकर अपने मैत्रीभाव एवं गुण ग्राहकता का परिचय दिया।

### 16वीं शताब्दी के महाकाव्य -

विजय नगर के कवि राजनाथ द्वितीय के पोत्र राजनाथ तृतीय ने 1540 ई0 के लगभग 20 सर्गों में 'अच्युतरायाभ्युदय' नामक अपना महाकाव्य विजय नगर के कृष्णदेव के भाई राजा अच्युतराय (1530-1542ई0) की प्रशंसा में लिखा। इसी समय मयूर गिरि के राजा नारायण शाह के आश्रित रूद्र कवि ने 1596 ई0 में 20 सर्गो का एक 'राष्ट्रौढ़वंश' नामक बृहत् महाकाव्य लिखा ।

### 17वीं शताब्दी के महाकाव्य -

17वीं शताब्दी संस्कृत के महाकाव्य-निर्माण की अन्तिम शताब्दी है। इस शताब्दी में पूर्वपिक्षया अधिक कृतियां लिखी गयी है। रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित के पुत्र राजचूड़ामणि दीक्षित ने 10 सर्गो की कृति

‘रूक्मिणी-कल्याण’ लिखी। तंजोर के राजा के राजसभा में एक आशु कवयित्री मधुरवाणी रहा करती थी। इनके ग्रन्थ का नाम ‘रामायण’ है जो 14 सर्गों तथा 1500 श्लोकों में लिखा गया है।

इस प्रकार वेद मन्त्रों की कवित्व-भावना से लेकर ‘रामायण’ और ‘महाभारत’ जैसे उपजीव्य ग्रन्थ और उसके बाद महाकवि कालिदास का अभ्युत्थान युग, महाकाव्यों की परिणति की अन्तिम परिस्थितयाँ इन सब का अध्ययन कर, संस्कृत के महाकाव्यों की इतनी विस्तृत परम्परा का परिचय समाप्त होता है।

# द्वितीय-अध्याय

## महाकवि श्रीहर्ष-जीवन वृत्त एवं कर्तृत्व

# महाकवि श्री हर्ष का जीवन परिचय

महाकाव्यों की प्रसिद्ध वृहत्रयी के अन्तर्गत नैषधीय चरित सम्मान पूर्वक परिगंणित है, वह अपने रचनाकाल से ही सम्मानित है, अलङ्कृत मार्ग को चर्मोन्नति पर पहुंचाने वाला यही महाकाव्य है, इसके रचयिता महाकवि श्री हर्ष है।

यह हमारा सौभाग्य है कि उक्त महाकाव्य के प्रणेता श्री हर्ष का जीवन-वृत्त हमें उपलब्ध है। उन्होंने स्वयं अपनें माता-पिता आदि के विषय में स्पष्ट लिखा है।

''नैषधीय चरित'' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक के आधार पर उनके पारिवारिक स्थिति पर प्रकाश डाला जा सकता है। वर्णित पद्य के आधार पर उनके वंश का परिचय इस प्रकार है।

श्री हर्ष के पिता का नाम श्री हीर तथा माता का नाम मामल्ल देवी था।[1] श्री हर्ष के पिता श्री हीर काशी के राजा गहरवार वंशी विजयचन्द्र की राज्यसभा के प्रधान पण्डित थे। श्री हीर विशिष्ट विद्वान थे। एक बार इनकों राजसभा में राजा के समक्ष मिथिला के प्रसिद्ध पण्डित श्री उदायनाचार्य ने इनको पराजित कर दिया। ''प्रथमं तावत्कविर्जिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयन मत्यमर्षण तया कटाक्षयंस्तद्

---

1. श्रीहर्ष कविराज राजि मुकुटालंकार हीरः सुतम् ।
   श्रीहरिः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।। नैषध-1/145

ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सु श्चतूर्विधपुषार्थैर भिमानमवधीर्य मानमवधीयं मानसमेकतानतां निनाय'' इन पंक्तियों से इस उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। शास्त्रार्थ में पराजित हुए इस पराजय के महासंताप ने उनके प्राण ले लिए। मरते समय श्री हीर ने अपने पुत्र श्री हर्ष से अपने विजेता उदयनाचार्य से शास्तार्थ करके बदला लेने को कहा। तद्नुसार श्री हर्ष ने अपने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके गहन अध्ययन करके सद्गुरू के समीप जाकर तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त दर्शन, योग दर्शन तथा मन्त्रशास्त्र का भलीभांति अध्ययन करके चिन्तामणि मन्त्र का जाप किया।

श्री हर्ष ने एक वर्ष पर्यन्त तक गंगानदी तट पर इस मन्त्र का जाप किया जाय के प्रभाव से त्रिपुरा देवी प्रसन्न हूई और उन्होने श्री हर्ष को अपराजेय पण्डित होने का आशीर्वाद दिया वहां से सीधे श्री हर्ष विजयचन्द्र की सभा में गये वहां उन्होंने ऐसी विद्वता पूर्ण युक्तियों का प्रयोग किया जिससे कोई विद्वान समझ नही पाये। फलतः वे पुनः देवी के पास गये और उन्होंने कहा कि मुझे ऐसा वरदान दीजिए जिससे मेरे कथन को विद्वत समुदाय समझ सके। देवी ने प्रसन्न होकर कहा अर्द्धरात्रि के समय गीले वस्त्र को मस्तक पर रखना और दही पीना जिससे कफ की अधिकता होकर जाड्यबुद्धि होने पर तुम्हारे कथन को सभी लोग समझने लगेंगे।[1] श्री हर्ष ने वैसा ही किया परिणामतः विद्वत समुदाय उनके कथन को भलीभांति जानने लगे। तदन्तर वहीं से वे सीधे विजय चन्द्र की सभा में गये और

1. ''आवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघाटनाद्, द्विधाभूतं रूपं भगवद्भिधेयं भवति यत् ।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरभंय सेन्दुममलं-निराकारं शाश्वज्जप नरपते! सिध्यस्तु स ते।।
नैषध-14/85

पण्डित सभा में राजा की प्रशंसा में- हे युवतियों गोविन्दपुत्र होने तथा शारीरिक सौन्दर्य परिपूर्ण होन के कारण तुम इस राजा को कामदेव समझो क्योंकि प्रद्युम्नरूप कामदेव भी गोविन्द (कृष्ण) के पुत्र है और शरीर से कामदेव के समान सौन्दर्यशाली है। कामदेव और राजा में केवल यही भेद है कि कामदेव संसार को जीतने के लिए स्त्रियों को अपना अस्त्र बनाते है तथा राजा युद्ध में जीतने के लिए पुरूषों को भी स्त्री के समान असहाय बना देता है यह सुनकर राजा विजयचन्द्र अति प्रसन्न हुए।[1]

इसके पश्चात श्री हर्ष ने अपने पिता श्री हीर के विजेता नैयायिक उदयनाचार्य को ललकारा और कहा- चाहे सुकोमल साहित्य की रचना हो अथवा दृढ़ न्याय की गुत्थियों से परिपूर्ण तर्क शास्त्र, मेरे द्वारा रचित होने पर सरस्वती समान रूप से लीला करती है। यदि शय्या कोमल विस्तर से युक्त हो अथवा दर्भ के अङ्कुरो से परिपूर्ण भूमि हो, यदि पति मन को अच्छा लगने वाला हो तो स्त्रियों के लिए रति समान रूप से आनन्द देने वाली होती है।

महाकवि श्री हर्ष के इस श्लोक को सुनकर उदयनाचार्य अत्यन्त पराजित हुए तथा लज्जित हुए और महाकवि श्री हर्ष की प्रशंसा में-

श्लोक को सुनकर श्री हर्ष शान्त हुए राजा ने परस्पर दोनों को मिलाया तथा दोनों का उचित आदर किया।

---

1. गोविन्दनन्दतया च वपुःश्रिया च मास्मिन् नृपे करूत कामधियं तरूण्यः ।
अस्त्री करोति जगतां विजये स्मरः स्त्री रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः।।कवि वंश वर्णन

इसके बाद श्री हर्ष ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र की सभा का सदस्य होना मान्य किया। राजा के निवेदन करने पर श्री हर्ष ने ''नैषधीय महाकाव्य'' की रचना की इस महाकाव्य को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और श्री हर्ष को कश्मीर जाकर शारदापीठ में सरस्वती को दिखाने के लिए कहा। सरस्वती दोष रहित ग्रन्थ का अभिनन्दन करती है तथा ग्रन्थ में दोष होने पर फेंक देती है। इस प्रकार ग्रन्थ लेकर श्री हर्ष कश्मीर गये।

श्री हर्ष कश्मीर में पहुंचकर सरस्वती के हाथों में अपने ग्रन्थ को रखा। सरस्वती ने उसे दूर फेंक दिया श्री हर्ष के पूंछने पर कि आपने क्यों फेंक दिया? इसमें क्या दोष है? सरस्वती देवी ने कहा कि तुमने ग्यारहवें सर्ग के छठवें श्लोक में मुझे विष्णु की पत्नी बतलाकर मेरे कन्यात्व का लोप किया है। क्योंकि अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्म भाषण कर्ता ये पांच योगियों को उद्धिग्न कर देते है।

इस प्रकार सरस्वती के वचनों को सुनकर श्री हर्ष ने सुनकर हंसते हुए कहा दूसरे जन्म में आपने विष्णु भगवान को पति के रूप में स्वीकार नही किया था क्या और संसार भी आपको विष्णु की पत्नी ही कहता है। अतः मेरे द्वारा सत्य लिखनें पर आपने क्रुद्ध होकर उसको फेंक दिया। हर्ष की बात सुनकर सरस्वती ने आदर के साथ पुस्तक को उठाकर उसकी प्रशंसा की।[1]

---

1. देवी पवित्रित चतुर्भुज वामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमा भिरामम् ।
   एतस्य निष्कृपकृपाणं सनाथपाणेः पाणि ग्रहादनुगृहणगणं गुणानाम् ।। नैषध-11/64

इसके पश्चात महाकवि श्री हर्ष ने विद्वानों के समक्ष ग्रन्थ रखकर कहा कि सरस्वती ने आप लोगों के समक्ष इसकी प्रशंसा की है। अतः आप लोग राजा माधवदेव को इस पुस्तक को दिखलाकर रचना होने का प्रमाणपत्र मुझे दे दो उसको ले जाकर मैं राज जयचन्द्र को दिखा सकूं। किन्तु वहां के विद्वानों ने ईर्ष्या के परिणाम स्वरूप न राजा को दिखाया न ही प्रमाणपत्र उनको दिया। इस कारण श्री हर्ष को वहां बहुत समय व्यतीत करना पड़ा तथा अपना सब कुछ बेचना पड़ा।

एक बार संयोगवश नदी के किनारे बैठकर जाप कर रहे थे। उसी समय वहां दो स्त्रियां पानी भरने के लिए आयी। पानी भरने के लिए उनमें परस्पर झगड़ा हो गया तथा मारपीट भी हुई, निर्णय के लिए वे दोनों राजदरबार में पहुंची, राजा द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टा साक्षी मांगे जाने पर पनिहारिनो ने महाकवि श्री हर्ष को ही प्रस्तुत किया। श्री हर्ष ने कहा मै यहां का रहने वाला नही हूँ तथा मैं यहां की भाषा नहीं जानता हूँ किन्तु मैं इनके कथोप कथन को ज्यों का त्यों कह सकता हूँ राजा की आज्ञानुसार श्री हर्ष ने ज्यों का त्यों सुना दिया। राजा यह सुनकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। राजा के पूंछने पर श्री हर्ष ने अपनी यात्रा आरम्भ कर अब तक के सम्पूर्ण घटना को राजा के समक्ष सुनाया। उसे सुनकर राजा पण्डितों की मत्सरता को देखकर बहुत दुखित हुए और पण्डितों को धिक्कारते हुए कहा-

शरीर को जलती हुई अग्नि में जला देना ही अच्छा है किन्तु गुणसम्पन्न व्यक्ति के साथ ईर्ष्या करना अच्छा नही है। गुणों के न रहने

पर इससे कोई असया नहीं करता परन्तु गुणी जनों के प्रति ईर्ष्या करना विद्वानों में देखा जाता है।[1] राजा के आदेशानुसार वहां के पण्डितों ने महाकवि श्री हर्ष का उचित सत्कार किया। इससे प्रसन्न होकर श्री हर्ष ने ''नैषधीय चरित'' की प्रशस्ति में कहा।

जिस प्रकार कोई सुन्दर स्त्री युवाओं के चित्त को आकर्षित करती है उसी प्रकार क्या बालक के चित्त का भी हरण करती है क्या यदि यह मेरी उक्ति अमृत होकर विद्वानों के चित्त को तृप्त करती हैं तो इस उक्ति को रसहीन पुरूषों की अराधना करने की आवश्यकता नहीं है।[2]

इस श्लोक को सुनकर वहां के सभी विद्वान लज्जित हुए। श्री हर्ष का उचित सम्मान किया गया तथा ग्रन्थ की शुद्धता का राजमुद्राङ्कित प्रमाण पत्र लाकर दिया। कवि श्री हर्ष काशी गये और सम्पूर्ण वृतान्त सुनाया। उसके पश्चात ही ''नैषधीय चरित'' महाकाव्य अत्यन्त प्रचलित तथा प्रसिद्ध हो गया था उनकी कीर्ति सर्वत्र फैल गयी।

महाकवि श्री हर्ष के विषय में विद्वानों में एक दन्त कथा प्रसिद्ध है किंवदन्ती के आधार पर ''काव्य प्रकाश'' के निर्माता मम्मटाचार्य श्री हर्ष के मामा लगते थे। ''नैषधीय चरित'' महाकाव्य की रचना के समय वे अत्यन्त वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे। महाकवि श्री हर्ष उनकी सहमति

---

1. वरं प्रज्वलिते व ह्वविह्वयनेहितं? वपुः न पुनर्गुण सम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपिमत्सरः ।
   वरं सा निर्गुणावस्था चस्यां कोऽपि न मत्सरी गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमन सामापि ।।
   –कवि वंश वर्णन
2. यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी कुमाराणामन्तः करणहरणं नैव कुरूते ।
   मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरूषाराधनरसैः।। क0प्र0 1

को ध्यान में रखकर ग्रन्थ उनके सामने रखा। मम्मट ने उस महाकाव्य का भलीभांति अध्ययन करने के पश्चात उनको बुलाकर कहा यदि यह महाकाव्य मेरे "काव्य प्रकाश" लिखने के पूर्व मिल गया हो तो मुझे सप्तम उल्लास लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि इस महाकाव्य में सम्पूर्ण दोषों के उदाहरण प्राप्त हो गये हैं इस सम्मति को सुनने से आश्चर्य चकित होकर श्री हर्ष ने जब उक्त सम्मति की पुष्टि में उदाहरण जानना चाहा तब उन्होंनें श्री हर्ष के समक्ष निम्न लिखित श्लोक रख दिया।

यह पद्य केवल पदच्छेद में किञ्चत भिन्नता कर देने से मंङ्गल के स्थान पर अमङ्गल की सूचना दे रहा है। तब शिवं वर्त्म निवर्तता (तुम्हारा कल्याणदायक मार्ग हट जाय)। सत्वं पुनः आगमः (तुम फिर कभी न लौटे) अयि साधे (अधिना सहेति साधिठ तत्सम्बुद्धौ) असाधम दूप्सितम्। हे रोगग्रस्त मेरे मनोरथ को पूरा मत करो। हे वयः वयं समये स्मरणीयाः (अर्थात हमारी मृत्यु के पश्चात कभी-कभी हमारा स्मरण किया करना।[1] महाकवि श्री हर्ष ने इस श्लोक को नल के द्वारा दमयन्ती के पास जाने वाले हंस से मङ्गल के रूप में कहलाया है- परन्तु फिर शीघ्र लौट आने की प्रार्थना करायी है- परन्तु काव्य प्रकाश के आचार्य मम्मट के द्वारा प्रदर्शित पदच्छेद से अर्थ का अनर्थ हो गया।

---

1. तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
   अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ।। नैषध-2/62

इस भांति अपने मामा की दोषपूर्ण सम्मति को सुनकर हर्ष बहुत दुःखी मन के साथ वापस लौट आये। मम्मटाचार्य तथा श्री हर्ष के काल की आसन्नता पर भी इस दन्तकथा के असत्य होने में कोई बाधा नही पहुंच सकती।

महाकवि श्री हर्ष के बारे में नैषध महाकाव्य के प्राचीन टीकाकार चाण्डु पण्डित ने भी लिखा है कि उन्होंने वाराणसी के मुक्ति क्षेत्र में चारों पुरूषार्थ को प्राप्त कर मानसिक शान्ति को प्राप्त किया। उसके पश्चात उन्होंने अपने पिता हीर के प्रतिद्वन्दी की रचनाओं का मण्डन करने के लिए "खण्डनखण्डखाद्य" नामक ग्रन्थ की रचना की। परन्तु बाद में उनकों यह अनुभव हुआ कि यह रचना केवल शुद्ध तर्क है अतः उन्होंने लोगों के लिए "नैषध महाकाव्य" की रचना की। श्री हर्ष के विषय में "गदाधर" के द्वारा कुछ लिखा गया है। गदाधर के अनुसार 'गोविन्द चन्द्र' उनसे ईर्ष्या करते थे तथा उनके ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' पर अनेक प्रकार के दोषपूर्ण बातों को कहते थे यह सब सुनकर श्री हर्ष को बहुत दुःख हुआ और उन्होनें 'नलचरित' नामक महाकाव्य की रचना की तथा राजा को भेंट की। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होनें इस ग्रन्थ के उपलक्ष्य में श्री हर्ष को दो आसन प्रदान किए एक तर्क के ज्ञाताओं के मध्य तथा दूसरा साहित्यमर्मज्ञों के मध्य। राजा ने उनकों दो पान भी प्रदान किये तथा कवि पंडित की उपाधि से उन्हें अलङ्कृत किया।

''नैषध महाकाव्य'' पर भाषय लिखने वाले कमलाकर गुप्त को श्री हर्ष का पौत्र कहा जाता है। हरिहर कवि को भी हर्ष का वंशज माना जाता है।

इस प्रकार इन सभी तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाकवि श्री हर्ष को अपने जीवन में कष्टों का सामना करना पड़ा तथा उन्होंने ''नैषध महाकाव्य'' की रचना कर संस्कृत साहित्य में एक देदीप्यमान ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस प्रकार जीवन परिचय के आधार पर उनके पिता का नाम हीर तथा माता का नाम मामल्ल देवी था।

**काल :**

श्री हर्ष के काल निर्धारण में सर्वप्रथम डॉ0 बुलर ने इनका समय निश्चित करने का प्रयास किया था। उन्होंने राजशेखर सूरि द्वारा रचित 'प्रबन्ध कोष' के आधार पर इनका समय निश्चित किया है। 'प्रबन्ध कोष' में राजशेखर सूरि ने श्री हर्ष के बारे में लिखा है उन्होनें महाकवि श्री हर्ष को राजा जयचन्द्र का आश्रित कवि माना है।

महाकवि श्री हर्ष ने स्वयं नैषध महाकाव्य में अपने काल का निर्धारण करते हुए कहा है।

जिस (श्री हर्ष) को कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा से आसन तथा दो पान प्राप्त होते थे।[1] यह कन्नौज राजा जयन्तचन्द्र (जयचन्द्र) ही है। इसका समय 1156 ई0 से 1193 ई0 तक है। यह राजा जयतचन्द्र कन्नौज

---

1. ताम्बूल द्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।। कवि प्रशस्ति-4

तथा काशी का प्रसिद्ध जयचन्द्र ही है। जिसका दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ युद्ध हुआ था। श्री हर्ष ने नैषध महाकाव्य के प्रथम सर्ग में भी अपने समय का उल्लेख किया है। उन्होंने पंचम सर्ग में जिस 'विजय प्रशस्ति का उल्लेख किया है ऐसा अनुमान है कि जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा में ही लिखा गया होगा। विजयचन्द्र का अन्तिम शिलालेख सन् 1193 ई0 का है। जयचन्द्र के युवराज पर आरोहण के समय के एक दानपत्र का समय संवत् 1224 अर्थात सन् 1169 ई0 है।

महाकवि श्री हर्ष राजा जयचन्द्र के आश्रित कवि थे। जयचन्द्र ने 1163 से 1177 ई0 के मध्य में राज्य किया होगा क्योंकि उनके पिता का अंतिम शिलालेख 1163 ई0 का है। उनका पहला दानपत्र 1177 ई0 का है। राजशेखर सूरि के अनुसार राजा जयचन्द्र कुमारपाल के समकालीन थे जिनका समय 1143 ई0 से 1174 ई0 का था। राजा जयंतचन्द्र 1194 ई0 यवनों द्वारा राजसिंहासन से हटा दिया गया था अतः जयंतचन्द्र का शासनकाल 1163 तथा सन् 1194 के मध्य ही रहा होगा। महाकवि श्री हर्ष के उनके सभा के पण्डित होने के कारण इसका समय ईसा की 12वीं शताब्दी उत्तरार्ध मान लेना ही उचित जान पड़ता है।

महाकवि श्री हर्ष के काल के विषय मं और भी प्रमाण उपलब्ध होते है जो इस प्रकार है।

''चाण्डु पण्डित'' नैषधीय चरित के प्राचीन टीकाकार है इनके द्वारा की टीका का नाम 'दीपिका' है तो उनके द्वारा संवत् 1353 अर्थात सन् 1926 ई0 में लिखी गयी र्थी जिसके बारे में उन्होंने स्वयं ही लिखा है।

'चाण्डु पण्डित ने सर्गान्त में अपने माता-पिता का उल्लेख करते हुए श्लोक में 'नैषध महाकाव्य' को नवीन काव्य भी कहा है- ''काव्यं नवं नैषधम्'' इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समय तक नैषध को नवीन काव्य के रूप में देखा जाता था। चाण्डुपण्डित के टीका के पूर्व नैषध पर विद्याधर विरचित टीका भी उपलब्ध थी यह प्रतीत होता है इन दोनों टीकाओं के पूर्व नैषध महाकाव्य का लेखन समाप्त हो चुका था। अतः 'नैषधचरित' महाकव्य 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा गया होगा। इस तथ्य के आधार पर श्री हर्ष का समय 12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही माना जाता है।

महाकवि श्री हर्ष के समय के विषय में और भी कुछ प्रमाण उपलब्ध है जो इस प्रकार है- ''खण्डनखण्डखाद्य'' के आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर डा0 जानी ने श्री हर्ष का समय 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध ही माना है महाकवि ने अपने इस ग्रन्थ में उदय द्वारा रचित 'लक्षणावली' को उद्धृत किया है। और खण्डन किया है। लक्षणावली का रचनाकाल शक सं0 906 अर्थात 984 ई0 है। नैषध को सर्वप्रथम हेमचन्द्राचार्य (1088 से 1172 ई0) के शिष्य महेन्द्रसूरी ने अपने गुरू की रचना 'अनेक संग्रह' की टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' में उद्धृत किया है। हेमचन्द्राचार्य के पश्चात यह टीका लिखी गयी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि लगभग 1180 ई0 तक नैषध महाकाव्य प्रसिद्ध हो चुका था।

'तत्वचिन्तामणि' के रचयिता गंगेश उपाध्याय (1200 ई0) ने अपने ग्रन्थ में 'खण्डनखण्डखाद्य' का खण्डन किया है। अतः यह संभावना की

जा सकती है कि महाकवि श्री हर्ष की साहित्यिक गतिविधि का समय 1124 ई0 से 1180 ई0 तक के मध्य ही होगा।

अतः इन सभी प्रमाणों के आधार पर हम महाकवि श्री हर्ष का सयम 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही मानते है। इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष 12वीं शताब्दी के ही कवि माने गये है।

## श्री हर्ष का निवास स्थान :

महाकवि श्री हर्ष के निवास स्थान के विषय में विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत किये गये है। कुछ विद्वान उन्हें कन्नौज वाराणसी कश्मीर तथा बंगाल का निवासी मानते है। श्री हर्ष ने अपने महाकव्य में निम्नलिखित श्लोक में अपने को स्वयं कानयकुब्ज (कन्नौज) के राजा के आश्रित रहने का वर्णन किया है।

महाकवि श्री हर्ष का निवास कन्नौज ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। विद्वान महाकवि श्री हर्ष को वाराणसी का मानते थे। इसका प्रमाण यह है कि श्री हर्ष काशी नरेश जयंतचन्द्र के आश्रयदाता थे। स्वयं महाकवि श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य में "कश्मीरेर्भहिते चतुर्दशतयी विद्यां विदभ्दिर्महा काव्ये" (16/120) यह लिखा। इसके आधार पर विद्वान उन्हें कश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास करते है। 'प्रबन्धकोष' के रचयिता राजशेखर सूरी के 'प्रबन्धकोष' में उल्लिखित वचनों के आधार पर इनका कश्मीरी होना सिद्ध नहीं होता है।

महाकवि श्री हर्ष के निवास स्थान के विषय में और भी प्रमाण उपलब्ध होते है। कुछ आलोचकों ने इनका मूल निवास गौड देश (बंगाल) को माना है। मैथिल कवि 'विद्यापति' ने अपने 'पुरूष परीक्षा' नामक ग्रन्थ में श्री हर्ष को गौड़ देश का निवासी बताया है।

राजशेखर सूरि ने इनके निवास स्थान के विषय अपने हरिहर प्रबन्ध में लिखा है श्री हर्ष वंशे हरिहर: गौडदेश्य:।

इसके अतिरिक्त 'गोडोर्वीलुकूप्रशस्ति' तथा 'नवासहसाङ्गचरित' नामक ग्रन्थों में भी तथा नैषधीयचरित के कुछ वर्णनों के आधार पर उन्हें बङ्क देश का निवासी माना जाता है। श्री हर्ष के बङ्गदेश निवासी होने की पुष्टि नैषधीय चरित के आन्तरिक प्रमाणों, भाषा संस्कृत तथा बाह्य प्रमाण श्री हर्ष के पौत्र कमलाकर गुप्त तथा उनके वंशज हरिहर के बंगाली होने से होती है।

इस प्रकार श्री हर्ष के निवास स्थान के विषय में विद्वानों के अनेक मत है। कोई उनके कन्नौज, वाराणसी, बंगाल तथा कश्मीरी मानते है। परन्तु वास्तविक सत्य क्या है यह अनुमान लगाना कठिन है। उनकी रचनाओं को पढ़कर यह प्रतीत होता है कि महाकवि श्री हर्ष अनेक राजाओं के आश्रय में रहे होगें।

**रचनाएँ:**

महाकवि श्री हर्ष ने राजशेखर सूरि के अनुसार सौ से अधिक ग्रन्थों की रचानाएं की है (खण्डनादिग्रन्थान परश्शतान् ग्रन्थ) किन्तु उनके कोई नाम तथा कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

सर्वप्रथम प्रमाणों के आधार पर उन्होंनें सब मिलाकर दस ग्रन्थों की रचना की, जो निम्न हैं -

1. नैषधीय चरित के सर्ग के अन्त के श्लोकों में उपलब्ध होता है इससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने इन सभी ग्रन्थों की रचना नैषध चरित के पूर्व ही की होगी तभी तो उन्होंने नैषध महाकाव्य में सभी ग्रन्थों का विवरण दिया है।

**2. स्थैर्य-विचारण-प्रकरण :**

यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है।यह अनुमान किया जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा।

**3. विजय-प्रशस्ति :**

इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा लिखी गयी है जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा थे।

**4. खण्डनखण्डखाद्य :**

यह ग्रन्थ महाकवि श्री हर्ष का अनुपम वेदान्त ग्रन्थ है। यह वेदान्त एक अनूठा ग्रन्थ है इसमें महाकवि श्री हर्ष ने द्वैत सिद्धान्तों का खण्डन

तथा अद्वैत के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। इस ग्रन्थ में श्री हर्ष ने नैषध महाकाव्य का उल्लेख किया है।

**5. गौडोर्वीकुल-प्रशस्ति :**

महाकवि श्री हर्ष ने उपर्युक्त ग्रन्थ में गौड देश (बंगाल) के राजा की प्रशंसा की है इसका यह प्रशस्ति ग्रन्थ है।

**6. अर्णव-वर्णन :**

महाकवि श्री हर्ष ने इसमें समुद्र का वर्णन किया जो नाम से ही जान पड़ता है।

**7. छिन्द-प्रशस्ति :**

इस ग्रन्थ में महाकवि श्री हर्ष ने छिन्द राजा की प्रशंसा की है। छिन्द देश के राजा कौन थे और उनका निवास स्थान कहां है यह सब अज्ञात है।

**8. शिवशक्ति सिद्धि :**

महाकवि श्री हर्ष ने यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की आराधना में लिखा होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

**9. नवसाहसाङ्कचरित चम्पू :**

उपर्युक्त ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि महाकवि श्री हर्ष ने नवसाहसाङ्ग के चरित को चम्पू के रूप में वर्णित किया है।

### 10. ईश्वराभिसन्धि :

दसवां ग्रन्थ है इसका उल्लेख महाकवि श्री हर्ष ने अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' में 5 बार किया है। इस प्रकार श्री हर्ष द्वारा रचित दस ग्रन्थों का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। अन्य ग्रन्थों के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है।

महाकवि श्री हर्ष द्वारा निश्चित दस ग्रन्थों में केवल इस समय दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते है। 1. नैषधीय चरित 2. खण्डनखण्डखाद्य, शेष आठ ग्रन्थ लुप्त हो चुके है उनकी हस्तलिखित प्रतियां भी प्राप्त नहीं होती है।

महाकवि श्री हर्ष नैषध महाकाव्य में 'खण्डनखण्डखाद्य' का उल्लेख तथा 'खण्डनखण्डखाद्य' में नैषध महाकाव्य का उल्लेख किया है। इसमें यह स्पष्ट होता है इन दोनों ग्रन्थों की रचना इन्होंने साथ-साथ की होगी।

उनकी यह अन्तिम रचना है ईश्वरभिसन्धि जिसका उल्लेख 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ में अवश्य मिलता है इस अन्तिम ग्रन्थ का उल्लेख नैषधचरित में कही नही मिलता है। 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ में 'ईश्वराभिसन्धि' का नाम अवश्य ही मिलता है परन्तु वह भविष्यत् काल में ही है-

इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष द्वारा विरचित सभी रचनाओं का प्रमाण न होने के कारण जो दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हा सके है वे है 'नैषधीयचरित' तथा 'खण्डनखण्डखाद्य'। नैषध चरित उनका एक प्रसिद्ध

महाकाव्य है। इसी महाकाव्य के द्वारा ही उनका संस्कृत साहित्य में प्रथम स्थान है।

### ''नैषधीयचरितम्'' महाकाव्य का सामान्य परिचय :

प्रत्येक महाकवि अपनी रचना लिखने के लिए किसी न किसी पौराणिक ग्रन्थ का अवश्य ही आश्रय लेता है। महाकवि श्री हर्ष ने भी अपने नैषधीय चरित को लिखने के लिए महाभारत महाकाव्य का आश्रय लिया। नैषधीय चरित महाकाव्य महाभारत के वनपर्व के नलोपाख्यान से अध्याय 52-79 में ही प्राप्त होता है। नैषधचरित की कथावस्तु का प्राचीनतम् सूक्ष्म रूप 'सतपथ ब्राह्मण-2/2/4/-1-2 में प्राप्त होता है इसके अतिरिक्त कथासरित्सागर कुमारपाल प्रतिबोध, 'पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड' लिङ्ग पुराण 1/06, 24-25 'वायुपुराण' 2/26/74, हरिवंश-1/15 तथा ब्रह्मपुराण 2/63, 173-74 आदि ग्रन्थों में भी नल दमयन्ती सम्बन्धी कथा का उल्लेख प्राप्त होता है। नैषधीय चरित कथा का मूल रूप हमें महाभारत के वनपर्व से ही प्राप्त होता है। इसी कथा को नैषध महाकाव्य का मूल आधार माना गया है।

महाकवि श्री हर्ष द्वारा विरचित एवं प्राप्त ग्रन्थों में 'नैषध महाकाव्य' को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है जिसमें 2830 श्लोक है जिसमें नैषध महाकाव्य निषध देश के राजा नल तथा विदर्भ देश के राजा की पुत्री दमयन्ती का प्रणय सम्बन्ध बड़ी ही सरल शैली में निबद्ध है। संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों की भांति ही महाकवि श्री हर्ष ने महाकाव्य की कथावस्तु नल-दमयन्ती के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान से ली है किन्तु अपने

उत्कृष्ठ कवि कर्म और अपनी सरल शैली के आधार पर उस नीरस कथा को भी ऐसा हृदयग्राही बना दिया है। जिससे कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपनी लोकप्रियता सिद्ध कर दी है। इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष के द्वारा रचित महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार प्रस्तुत है।

**प्रथम सर्ग :**

1. निषधदेश के राजा नल का चरित चित्रण विद्या, धर्मान्तिरण, प्रताप एवं उत्कर्ष का वर्णन।
2. विदर्भ देश के राजा की पुत्री दमयन्ती के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन तथा राजा नल के प्रति अनुरक्त होना।
3. राजा नल के मृगया का वर्णन तथा राजा के द्वारा हंस पकड़ा जाना।
4. हंस के द्वारा नल के समक्ष विलाप का वर्णन तथा उसके पश्चात् दर्याद्र राजा का उसे छोड़ना।

**द्वितीय सर्ग :**

1. हंस के द्वारा राजा नल के समक्ष दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन।
2. राजा नल द्वारा हंस को कुण्डन पुरी भेजे जाने का वर्णन तथा दमयन्ती को अपनी सखियों के साथ उपवन में विहारमग्न होना।

**तृतीय सर्ग :**

1. दमयन्ती के समक्ष हंस के द्वारा मनुष्य वाणी में राजा नल के पौरूष पराक्रम और सौन्दर्य का वर्णन।

2. दमयन्ती का राजा नल के प्रति आकृष्ट होना तथा हंस से सहायता मांगना।

3. हंस का नल की राजधानी को वापस लौटना और अपनी सफलता की सूचना देना।

**चतुर्थ सर्ग :**

1. कामाग्नि में व्याकुल होकर दमयन्ती का पूर्वानुराग वियोगावस्था का प्रशस्त वर्णन।

2. राजा भीम द्वारा दमयन्ती की दशा देखकर तथा उसका वृत्तान्त सुनकर स्वयंवर करने का निश्चय करना।

**पञ्चम सर्ग :**

1. दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारी के समय पर्वत ऋषि के साथ नारद मुनि का स्वर्ग जाना तथा इन्द्र देवता के समक्ष दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णन।

2. सौन्दर्य को सुनकर इन्द्र, यम, वरूण, अग्नि का दमयन्ती के स्वयंवर के लिए प्रस्थान करना।

3. इन्द्रदि देवों का दमयन्ती के लिए उपहार भेजना।

4. राजा नल से रास्ते में उन सबसे भेंट होना तथा राजा नल के सौन्दर्य को देखकर इन्द्रादि देवों को ईर्ष्या होना।

5. स्वयंवर का आयोजन।

6. इन्द्रादि देवों द्वारा राजा नल को तिस्करणी विद्या के सहारे अपना दूत बना कर भेजना तथा उसे अदृश्य हो जाने की शक्ति देना।

**षष्ट सर्ग :**

1. अदृश्य राजा नल का कुण्डिनपुर में दमयन्ती के भवन में पहुंचना।
2. देवों की दूतियों द्वारा देवों में से ही किसी को चुनने के लिए दमयन्ती से आग्रह करना।
3. दमयन्ती का उनको ऐसा करने से रोकना।
4. राजा नल का प्रसन्न होना तथा नल के द्वारा अदृश्य उन सबकी बाते सुनना।

**सप्तम सर्ग :**

1. राजा नल का दमयन्ती के सौन्दर्य को देखना।
2. दमयन्ती के नखशिखान्त सौन्दर्य की प्रशंसा करना।
3. उनकी सखियों के सम्मुख राजा नल द्वारा अपने को प्रगट करने का निश्चय।

**अष्टम सर्ग :**

1. रनिवास में राजा नल को देखकर आचानक सखियों को विस्मय।
2. राजा नल के असीम सौन्दर्य का वर्णन।
3. दमयन्ती द्वारा उनका परिचय पूछना तथा शान्तिपूर्वक नल का स्वागत।

4. राजा नल द्वारा अपने को देवदूत कहना।

5. राजा नल के द्वारा चारों देवताओं के अनुराग का वर्णन और उनमें से किसी एक को चुनने के लिए दमयन्ती को चुनने के लिए दमयन्ती से आग्रह करना।

**नवम् सर्ग :**

1. नल तथा दमयन्ती के वार्तालाप का वर्णन।
2. दमयन्ती से किसी देवता को स्वीकार करने के लिए नल का बार-बार आग्रह।
3. राजा नल का अपने आप को प्रकट करना।
4. राजा नल द्वारा स्वयंवर में आने की स्वीकृत देना और दमयन्ती का विलाप और उसके विलाप से नल का हृदय पिघलना। इसके बाद नल का अपना नाम बतलाना और देवताओं के पास लौट आना।

**दशम सर्ग :**

1. स्वंयवर का आरम्भ होना।
2. दमयन्ती के स्वयंवर में एक सच्चा नल तथा इन्द्रादि देवों का नल वेषधारण कर स्वयंवर में उपस्थित होना।
3. स्वयंवर में उपस्थित नायकों का वर्णन करने के लिए विष्णु भगवान् का सरस्वती को भेजना।

**एकादश सर्ग :**

1. सरस्वती द्वारा देवताओं तथा राजाओं आदि का परिचय दमयन्ती को देना।
2. नलासक्त दमयन्ती द्वारा उनकी अस्वीकृति।
3. पुष्कर, कुश प्लक्ष, शाक, कौञ्च, शामल्ल तथा जम्बू इन द्वीपों के राजाओं का वर्णन।

**द्वादश सर्ग :**

1. सरस्वती के द्वारा अयोध्या, पाण्डय, महेन्द्र, काञ्ची, नेपाल, मलय, मिथिला, कामरूप, उत्कल तथा मगध के राजाओं का वर्णन।
2. दमयन्ती का उन पर ध्यान न देना।
3. पांचो नलों को देखकर दमयन्ती का आश्चर्य चकित हो जाना।

**त्रयोदश सर्ग :**

1. सभी राजाओं को अस्वीकार करने के पश्चात दमयन्ती का पांचो नलो के पास जाना।
2. सरस्वती द्वारा पांचो नलों का श्लोकों से उनका वर्णन।
3. देवताओं तथा राजा नल में अन्तर न कर सकने के कारण दमयन्ती का दु:खी होना।

**चतुर्दश सर्ग :**

1. दमयन्ती के द्वारा स्वयंवर में मन ही मन देवतओं को पूजा करना।

2. तब देवताओं की कृपा से दमयन्ती द्वारा नल को पहचान पाना तथा देवताओं के अनुमति से नल के कण्ठ में जयमाल पहिनाना।

3. दमयन्ती की प्रतिनिष्ठा से प्रसन्न होकर देवतओं का अपने वास्तविक रूप में आना।

4. नल तथा दमयन्ती के विवाह का वर्णन।

5. सरस्वती द्वारा तथा देवतओं द्वारा दोनें को आशीर्वाद देने का वर्णन।

**पञ्चदश सर्ग :**

1. विवाह की तैयारी में राजा भीम का संलग्न होने का वर्णन तथा दमयन्ती और नल के अद्भुत श्रृंगार का वर्णन।

2. राजा भीम द्वारा विवाहोत्सुक नल को आमन्त्रित करने का वर्णन।

**षोडस सर्ग :**

1. राजा भीम द्वारा बारात का स्वागत सत्कार किये जाने का वर्णन।

2. बारात का वर्णन।

3. राजा नल तथा दमयन्ती के पाणिग्रहण तथा ज्यौनार का विस्तृत वर्णन।

4. पांच छः दिन बाद बारात का वापस लौटना तथा राजा नल द्वारा वापिस जाने पर उनकी प्रजा द्वारा उनके स्वागत का वर्णन।

**सप्तदश सर्ग :**

1. स्वर्ग वापस जाते समय देवों की कलि से भेंट तथा देवताओं द्वारा कलि के नास्तिकतावाद का खण्डन।
2. धर्म का निन्दा करना, तब देवताओं के द्वारा उनकी भर्त्सना।
3. कलि द्वारा राजा नल को राजच्युत होने तथा दमयन्ती से नियुक्त होने सम्बन्धी शाप उल्लेख।

**अष्टादश सर्ग :**

1. राजा नल तथा दमयन्ती के प्रथम समागम का साङ्गोपाङ्ग का वर्णन।
2. दमयन्ती के साथ नल की क्रीड़ा का वर्णन।

**एकोनविंश सर्ग :**

1. प्रभात वर्णन तथा राजा नल और दमयन्ती को जगाने के लिए वैतालिक लोगों के द्वारा श्रुति मधुरगान करने का वर्णन।
2. प्रात: काल से लेकर सूर्यास्त तक सूर्य का हृदयहारी वर्णन।
3. नल के द्वारा रथ पर चढ़कर बाहर जाने का वर्णन।

**विंश सर्ग :**

1. दमयन्ती और उसकी सखी कला के साथ नल के परिहास का वर्णन।

2. राजा नल द्वारा प्रभात कालीन अग्निहोत्राणि क्रियोओं का पूर्ण करने का वर्णन।

3. शिव पूजा की बेला को समीप समझना नल के जाने का वर्णन।

**एकविंश सर्ग :**

1. करदाता नृपतियों से मिलकर नल का स्नान तथा देवार्चन करना।

2. राजा नल द्वारा सीखने के लिए आए हुए राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र के अभ्यास कराने का वर्णन।

3. सभी देवताओं की पूजा का वर्णन तथा सभी देवताओं के विभिन्न अवतारों का वर्णन।

4. दोपहर का भोजन करके नल का दमयन्ती के साथ बैठना तब एक सखी का कोयल को लेकर वहां आना और उसकी प्रशंसा में कोयल का गाना।

**द्विविंश सर्ग :**

1. नल-दमयन्ती के द्वारा चन्द्र विम्ब का वर्णन।

2. मधुर कल्पनाओं के साथ सन्ध्या, तारों, अन्धकार तथा चन्द्रमा का वर्णन।

## नैषधीयचरित का नाम करण :

चूंकि किसी भी नाटक, नाटिका, प्रकरण अथवा काव्य एवं राचनाओं का नामकरण नायक, नायिका प्रतिपाद्य वस्तु अथवा प्रमुख घटना के आधार पर ही नाट्यकारों तथा ग्रन्थकारों ने लिखा है जैसा कि स्पष्ट है-

1. ‘उत्तररामचरित’ का नाम नायक के आधार पर।

2. ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ और ‘रत्नावली’ का नाम नायिका के आधार पर।

3. ‘वेणीसंहार’ का नाम प्रमुख घटना के आधार पर।

4. ‘मुद्राराक्षस’ का नाम राक्षस को उस मुद्रा के आधार पर रखा गया है जो चाणक्य की सफलता का कारण।

5. ‘मृच्छकटिकम्’ नाम प्रमुख घटना के आधार पर रखा गया है।

ठीक उसी प्रकार ‘नैषधीयचरित’ जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि जो निषध देश का राजा नल जो कि महाकाव्य के नायक है उसके आधार पर रखा गया है।

## नैषधीयचरितम् और महाकाव्यों में उनका स्थान :

आदि कवि वाल्मीकि के रामायण से प्रारम्भ काव्यालेखन की निरन्तर प्रवाहमान श्रृंखला में विविध प्रकार का साहित्य उपलब्ध है। उसी सनातन परम्परा में अलङ्कृत शिल्पियों के मध्यकवियों में माघ, भारवि आदि कवियों के साथ महाकवि श्री हर्ष का नाम परिगणित है। नैषधीय चरित महाकाव्य संस्कृत साहित्य के पांच सुप्रसिद्ध महाकाव्यों 1. कुमार सम्भव 2. रघुवंश 3. किरातार्जुनीयम् 4. शिशुपाल वध 5. नैषध महाकाव्य में से एक है। इनमें से तीन महाकाव्यों की गणना वृहत्त्रयी में की गयी है तथा अवशिष्ट दो महाकाव्यों की गणना लघुत्रयी में। वृहत्रयी के अन्तर्गत आने वाले तीनों महाकाव्यों में ‘नैषध महाकाव्य’ ही श्रेष्ठ माना गया है।

इस प्रकार इस पद्य से यह प्रतीत होता है कि कालिदास उपमा के, भारवि अर्थ गौरव के लिए, दण्डी पदलालित्य के लिए तथा माघ में ये तीनों ही गुण विद्यमान थे। परन्तु तब तक भारवि की आभा अभी तक शोभा पाती है जब तक माघ का उदय नही होता। नैषध महाकाव्य के उदित हाने पर कहां माघ और कहां भारवि।[1]

महाकवि श्री हर्ष का इन सभी महाकवियों में सर्वोत्कृष्ठ स्थान क्यों प्राप्त है इसका अनुमान काव्य के अनुशीलन से ही होता है।

सम्पूर्ण अलंकारों से अलंकृत नैषधमहाकाव्य के छन्दोमय शरीर पर नौ रसों की वर्षा कर उसे प्राणवान और अमर बनाने वाले महाकवि श्री हर्ष का व्यक्तितत्व अर्हता, राजुता और उदारता की विचित्र संघात था। नैषध महाकाव्य जहां उनका यश: शरीर माना जाता है वहीं उनके शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक जीवन की व्याख्या भी है सम्पूर्ण ग्रन्थ के सम्यक् अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह महाकाव्य महाकवि श्री हर्ष का प्रतिबिम्ब और उस युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ऐसा जान पड़ता है कि कवि में ऐसा दुर्निवार अहं था जिससे विवश होकर तथा अपने पिता के प्रतिद्वन्दी से बदला लेने के लिए उन्हें अपने बहुश्रुतत्व, पाण्डित्य और चमत्कारी प्रतिभा का परिचय हठात देना पड़ा। इसी प्रतिद्वन्दिता के वशीभूत होकर उन्होंने "किरातार्जुनीयम्" की

---

1. उपमा कालिदासस्य भारवेश्च गौरवम् दण्डिन: पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो: गुणा:। तावद् भा भारवेर्भाति यावन्यामघस्य नोदय: उदितें नैषधे काव्ये वक माघ: क्व च भारवि:।।

शैली वृत्ति और शब्दावली का अनुसरण सम्भवतः किया है। श्री हर्ष ने महाकवि माघ की पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा वाणी की विशदता से आगे बढ़ने का प्रयास करते दिखायी देते है। सम्भवतः कवि के हृदय में यह प्रतिक्रिया जगी हुयी थी कि उन्होंने अपने पिता के प्रतिद्वन्द्वियों को हरायेंगे। तथा मां भगवती की तपस्या करते हुए अपने महाकवित्व की अमिट छाप छोड़ेगे। हालांकि हर्ष काव्य में भवभूति की सी गार्वोक्ति, कालिदास की सी कमनीय स्वच्छन्दता और वाण की आत्माभिव्यक्ति का अभाव सा मिलता है। फिर भी उन्होंने अपने धार्मिक, शास्त्रीय और सामाजिक मान्यताओं को समन्वयवाद की झीनी चादर से लपेटने का प्रयत्न किया गया है। यह निश्चित है कि श्री हर्ष विशुद्ध वैदिक सनातन धर्मी परम्परा के पोषक और अनुगामी रहे। कवि ने बुद्धि कौशल द्वारा धार्मिक समन्वय स्थापित करने में वही चातुर्य दिखलाया है जो कि भारवि ने कि किरातार्जुनीयम् में तथा महाकवि माघ ने शिशुपाल वध में।

श्री हर्ष के काव्य में रसोद्रेक की पर्याप्त शक्ति होने पर भी वस्तुतः श्री हर्ष पण्डित कवि है। उनके महाकाव्य में पदे-पदे आगाध पाण्डित और बहुज्ञता परिलक्षित होती है। सम्भवतः अन्य किसी संस्कृत कवि में इतना परिमिष्ठित ज्ञान न प्राप्त हो सके।

महाकवि श्री हर्ष सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता अत्यन्त मेधावी, अनुष्ठित बुद्धि सम्पन्न एवं अप्रतिभट पण्डित थे। उनके सम्बन्ध में नैषधचरित महाकाव्य के टीकाकार विद्याधर ने उनकी बहुज्ञता का परिचय देते हुए लिखा है।

यह कहना अनुचित न होगा कि उनका पाण्डित्य अगाध है। नैषधीय चरित के आद्यन्त सम्यक् परिशीलन करने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि श्री हर्ष परमैश्वर्य सम्पन्न कुलीन, व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान थे।

इनके काव्य रसिक होने का प्रत्यक्ष तो यह उनकी अनुपम काव्यकृति नैषध चरित से ही स्पष्ट हो जाता है। नैषधीय चरित से ही उनके वेद, वेदान्त, उपनिषद, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, संगीत, सामुद्रिक शास्त्र, अश्वशास्त्र, राजनीति आदि में पूर्णतया विपणात होने के प्रचुर मात्रा में प्रमाण मिलते है। वे सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शन के भी निष्णात पण्डित जान पड़ते है। उनका काव्य व्याकरण के दुरूह प्रयोगों से भरपूर है। उनकी काव्य प्रतिभा एवं दार्शनिक ज्ञान के जाज्वल्यमान उदाहरण तो साक्षात् नैषध चरित एवं खण्डनखण्ड खाद्य ग्रन्थ ही है। इन सभी सशास्त्रों से सम्बन्धित प्रसंगों से उनका नैषधीय चरित महाकाव्य ओत-प्रोत है। उनका महाकाव्य वेद तथा वेदांग से परिपूर्ण है जो कि अवलोकनीय है। उदाहरण में उन्होंने अप्रस्तुत योजना के रूप में श्रुतिज्ञान का आश्रय किया है। श्रुति कहती है।[1]

श्रुति सम्बन्धी इसी आनन्द की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा है-

कोई ब्राह्मण लोक में सबसे श्रेष्ठ पुरूषोत्तम श्री विष्णु भगवान से भुक्ति एवं मुक्ति का साधन संसार से निरक्ति कराने वाले ज्ञान को प्राप्त कर वाणी एवं मन के अविषय (अनिर्वचनीय) आनंद को प्राप्त करता है।

---

1. यतो वाचो निवर्त्तन्ते । आनन्द ब्रह्मणो रूपम् ।।

महाकवि श्री हर्ष ने वेदाङ्गो पर भी अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त किया था शिक्षा शास्त्र को दृष्टि से।

समस्त वर्णो से युक्त वह कुण्डिनपुरी नगर सुशोभित होती थी। श्लेष के माध्यम से स्वर भेद के कारण स्वर का अर्थ रंग स्वर का अर्थ स्वर लिया गया है।

महाकवि श्री हर्ष का व्याकरण शास्त्र पर पूरा अधिकार था। एक स्थल पर उन्होंने सु और जस इन प्रथमा विभक्ति के प्रयत्नों को लेकर श्लेष के माध्यम से विविध ज्ञान प्रस्तुत किया जो दृष्टव्य है।

हंस कह रहा है- यदि सज्जनों का वर्गीकरण किया जाय तो वह राजा नल ही प्रथम व्यक्ति होगा जो (व्यक्तित्व) अपने पराक्रम के प्रभाव से असंख्य शत्रु राष्ट्रों के सम्पूर्ण स्थलों को अपने वश में करने में समर्थ है।

(व्याकरण की दृष्टि से) यदि प्रथम आदि सात विभक्तियों में विचार किया जाय तो वह प्रथम विभक्ति ही प्रथम स्थान में होगी क्योंकि यही प्रथम विभक्ति पद बनाने में समर्थ है।

श्री हर्ष व्याकरण के पाण्डित्य के कारण कुछ नवीन शब्दों का प्रयोग करने में समर्थ हो सके है। जैसे-सूननायक (18/129) हंस स्पृशयम (18/130) इत्यादि नवीन शब्दों का प्रयोग व्याकरण के आधार पर समर्थ हो सका है इस प्रकार उनका व्याकरण पर पूर्ण अधिकार है ऐसा प्रतीत

होता है। व्याकरण प्रयोगों की दृष्टि से महाकवि श्री हर्ष का श्लोक पाणिनी सूत्र का सङ्केत करता है।

यहां पर महाकवि श्री हर्ष के इन पाण्डित्यपूर्ण प्रयोगों के कारण ही उन्हें महावैयाकरण के विशेषण से विभूषित किया जाता रहा है।

महाकवि श्री हर्ष में इन्द्रादि के नल का रूप धारण कर स्वयंवर में आने के प्रसंग का वर्णन करते हुए 'स्थानिवदा देशोऽनलविर्ब्धो' (पा0सू0 1/1/56) का सङ्केत किया है।[1]

महाकवि श्रीहर्ष निश्चित रूप से ज्योतिष ज्ञान से अछूते नही थे। नैषधचरित के प्रथम सर्ग के 16वें श्लोक में उन्होंने कहा कि सूर्य, बुध एवं शुक्र इन ग्रहों के साथ समय व्यतीत करता हुआ उदय को प्राप्त होता है सूर्य के सदृश ही राजा नल उदय को प्राप्त हुए।

महाकवि श्री हर्ष ने निम्नलिखित श्लोक में दुरधरा योग का लक्षण व्यक्त करते हुए।

जिस प्रकार गुरू शुक्र के साथ चन्द्रमा के दुरूधर योग में उत्पन्न बालक बुद्धिमान होता है। उसी प्रकार तुम्हारे कुण्डलो के साथ मुखचन्द्र का स्पर्श राजा नल में अतिशय काम को बढ़ायेगा।[2]

---

1. स्वं नैषधादेश महो विधाय कार्यस्य हेतोरिति नानल सन् ।
   किं स्थानिवद्भाव मधत्त दुष्टं तादृक्कृत व्याकरण पुनः सः ।। नैषध-10/136
2. अवामि भैमी परिधाय कुण्डले वयस्याभ्यामभितः समन्वयः ।
   त्वदाननैन्दोः प्रियकाम जन्मादि श्रय त्ययं दौरूधरीं धुर धुवम् ।। नैषध-15/42

महाकवि श्री हर्ष के नैषधचरित के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है उन्हें दर्शनशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने न केवल भारतीय आस्तिक दर्शन का अपितु बौद्ध दर्शन का भलीभांति अध्ययन किया था। सांख्य दर्शन में उन्होंने सत्कार्यवाद पर अधिक बल दिया है।

श्री हर्ष ने योगदर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख करते हुए लिखा है। कवि ने वेदान्त मूलक सिद्धान्तों का भी अपने काव्य में प्रयोग किया है तथा ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया है।

वैशेषिक दर्शन के 'तम' नामक द्रव्य के खण्डन में उन्होंने कैसा मजाक किया है।

श्री हर्ष के निम्नलिखित श्लोक से उनके बौद्ध व जैन दर्शन सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है। प्रस्तुत श्लोक में महाकवि श्री हर्ष ने बौद्ध दर्शन के अस्थिरवाद का उल्लेख किया है।[1]

महाकवि श्री हर्ष ने निम्नलिखित श्लोक में जैन दर्शन त्रिरत्न का उल्लेख करते है तथा इसके द्वारा ही निर्वाण प्राप्ति होती है ऐसा बताते है। श्री हर्ष निम्नलिखित श्लोक में चर्वाक दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। उनका सत्रहवां सर्ग तो चार्वाक दर्शन से ओत प्रोत है।

इस प्रकार श्री हर्ष के काव्य में प्रायः आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का उल्लेख मिलता है। जिससे यह सिद्ध होता है कि श्री हर्ष को दर्शनें का अच्छा ज्ञान था।

---

1. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना । यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम् ।।
   - नैषध-17/36

हलांकि संस्कृत कवियों में मुख्य रूप से महाकवि भारवि को राजनीति का विद्वान माना जाता है परन्तु यह कहना असंगत नहीं होगा कि भारवि का राजनीतिक ज्ञान व्यावहारिक तथा अनुभव जन्य था और माघ का राजनीतिक शास्त्रों का अनुशीलन किया था। उसमें वे प्रमुख सिद्धान्तों से भलीभांति परिचित थे श्री हर्ष ने राजनीतिक सम्मत राजा के गुप्तचर ही आंख है-

राजनीति में वर्णित दो प्रबल राज्यों की सीमा पर दुर्बल राज्य हो तो कोई आक्रमण नहीं करता है।

श्री हर्ष के काव्य में यत्र-तत्र रजनीतिक बातों की चर्चा होने के कारण श्री हर्ष के राजनीतिक ज्ञान की पुष्टि होती है।

महाकवि श्री हर्ष निःसन्देह वैदिक सनातन धर्म के अनुयायी थे। वेद और पुराण का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। नैषध महाकाव्य के सत्रहवें सर्ग के अध्ययन से उनके वैदिक ज्ञान का पता चलता है। काम वर्णन के प्रसङ्ग में नल अपने आप को धिक्करता हुआ कहता है जैसे ऋचा में यज्ञ की अग्नि प्रज्जवलित होती है उसी प्रकार दमयन्ती की चर्चा रूप मधु मेरी कामाग्नि को और बढ़ा रही है।[1]

श्री हर्ष को स्वर परिवर्तन के सम्बन्ध में ज्ञान था। वे स्वर परिवर्तन के कारण होने वाले अर्थ परिवर्तन के नियमों से भी परिचित थे। अतएव उनके मतानुसार स्वर अथवा वर्ण के अशुद्ध उच्चारण से मंत्र

---

1. अमृतं मधु तत्कथा मम श्रवण प्राघुणकीकृता जनैः।
   मदनानलबोधने भवेत् खग! धाय्या धिग धेयधारिणः । नैषध-2/56

यथावत फल न देकर विपरीत फल देता है।[1] अतः किसी कार्य के प्रति भिन्न-भिन्न फल प्रदान करने वाले दो समासों के विग्रह का स्वर द्वारा ही निर्णय किया जाता था।

महाकवि श्री हर्ष के द्वारा उच्चैरूदातः के अनुसार अर्थो का निर्देश है जिससे कवि के वैदिक ज्ञान की पुष्टि होती है।

सप्तदश सर्ग के अनेक श्लोकों 194, 195, 241 आदि वेद विषयक अर्थो का निर्देश है।

महाकवि के महाकाव्य में यत्र-तत्र पौराणिक कथाओं का समावेश है इन श्लोकों का पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने सभी पुराणों का गहन अध्ययन किया होगा पुराण कथा सम्बन्धी।

इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य में पौराणिक कथाओं का समावेश किया है जिससे पुराणज्ञ होने की पुष्टि होती है।

महाकवि श्री हर्ष को वेद, व्याकरण आदि के अतिरिक्त प्रायः सभी शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। नैषध चरित में उन्हें संगीत शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। नैषध चरित महाकाव्य का निम्नलिखित श्लोक संगीत शास्त्रज्ञ होने का परिचायक है।

---

1. रविरूचिऋचामोङ्करेघु स्फुटामल बिन्दुतां । गमयितुममूरूच्चीयन्ते विहायसि तारकाः ।
स्वरविरच नायासामुच्चैरूदात्त तया ऽऽहृताः शिशिरमध्यो विम्बादस्यादसंशयमंशवः ।।
- नैषध-19/7

श्री हर्ष के काव्य में यत्र-तत्र आयुर्वेद के ऐसे सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकों आयुर्वेद शास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

संक्रामक रोग की तरह नल की लज्जा ने उन सबको आक्रान्त कर दिया। इस प्रकार चतुर्थ एवं पञ्चम सर्ग में आयुर्वेद सम्बन्धी बातों का निर्देश मिलता है।

कुछ श्लोकों के द्वारा उनके धनुर्वेद शास्त्र में निष्णात होने का प्रमाण मिलता है।

महाकवि श्री हर्ष का अश्वशास्त्र के विषय में भी गहन अध्ययन होगा क्योंकि उन्होने 5-6 श्लोकों के माध्यम से ही अपने अश्वशास्त्र में निपुण होने की सूचना दे दी है कुछ श्लोक इसकी पुष्टि करते हैं।

कुछ श्लोकों के द्वारा सामुद्रिक शास्त्र का परिचय मिलता है।

कवि के साहित्य के विभिन्न अङ्गो रस सिद्धान्त, द्वन्द और अलंकारो की सिद्ध हस्तता का कहना ही क्या है यह सब बात तो कवि का अपना अधिकृत क्षेत्र है।जिधर से उसकी इच्छा हुई प्रसङ्ग, आरम्भ कर दिया और जिधर से चाहा समाप्त कर दिया। राजनीतिक और कूटनीति जैसे विषयों में भी उसने साहित्यिक पदार्थो की चर्चा करके उन्हें हृदयंगम करने योग्य और अधिकारिक उपादेय बना दिया है। महाकवि श्री हर्ष के अनुसार उनके काव्य का प्रमुख रस श्रृङ्गार है। उन्होंने अपने महाकाव्य को

श्रङ्गार रूपी मधुर व्यञ्जना में श्री हर्ष अपनी विलक्षण सहृदयता का परिचय देते हुए अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण करते है।

ऐसा मालुम पड़ता है मानो ब्रह्मा ने दमयन्ती की मुख को रचना के लिए चन्द्रमा को निचोड़कर उसका तत्व खींच लिया है इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पर आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ती है।

ऐसा मालुम पड़ता है श्रृंगार रस का प्रयोग दूसरें, सातवें, पन्द्रहवें और बाइसवें सर्ग में दमयन्ती के नखशिख वर्णन मिलता है।

श्रृंगार रस के अतिरिक्त ''नैषधीयचरित'' में वीर, करूण हास्य रसों के दृष्टांत भी देखने को मिलता है प्रथम सर्ग में राजा नल के सक्षम हंस का करूण विलाप देखने को बनता है।[1]

काव्यत्व का सूक्ष्म पारखी ही उत्तम कोटि का कर्त्ता हो सकता है। श्री हर्ष की दृष्टि में वैदर्भी रीति ही उनकों अधिक प्रिय होगी जिसका अनुमान निम्न श्लोकों से लगाया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में उन्होनें पुनः निम्नलिखित श्लोक में संकेत किया है।

प्रस्तुत पद्य में महाकवि श्री हर्ष सात्विक भाव को रेखांकित करते है यथा–

---

1. मदेक पुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
   गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करूणा रूणद्धि नो ।। नैषध-1/135

यहां पर दमयन्ती के वरमाल पहनाने पर राजा नल को 'स्वेद' नामक सात्विक भाव उत्पन्न हुए।

महाकवि श्री हर्ष ने प्रकृत का अत्यंत अलंकृत एवं सजीव वर्णन किया है नैषध चरित्र में प्रथम, चतुर्थ, उनविंश तथा द्वादिश सर्गो में प्रकृत के अनेक प्रसंग देखने  के मिलता है। नैषध में प्रातः, सायं, वन, उपवन, सूर्य, चन्द्रमा, नदी, नद, समुद्र, तडाग आदि प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक एवं सुन्दर वर्णन हुआ है। वस्तुतः प्रकृति को देखने और समझने की श्री हर्ष की शक्ति अन्भुत है। श्री हर्ष जिस भी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते है उसका ही चित्र नैत्रपटल पर उपस्थित हो जाता है। सूर्यास्त के बाद रात्रि के समय आकाश में लगे हुए तारों की कल्पना करता हुआ कवि कहता है।

काल ने सूर्यरूपी अनार को खाकर जो बीज थूक दिए है वे ही तारों के रूप में आसमान में दिखाई दे रहे है। इसमें भावात्मक अभिव्यञ्जना है। इसी प्रकार महाकवि श्री हर्ष का प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में एक और उदाहरण प्रस्तुत है।

निशा ने बड़ी कठिनाई से तारों के अक्षरों से काले गगन की पट्टी पर अन्धकार की प्रशस्ति लिखी थी, जिसको अपने गुलाबी करों (किरणों) से चन्द्रमा ने मिटा दिया है इसलिए तो पट्टी पर खड़िया लगने से वे सफेद हो गये है।

महाकवि श्री हर्ष ने विविध शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों से नैषध चरित को पूर्णतः अलङ्कृत कर दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति, सन्देह, अपह्नुति, श्लेष आदि अर्थालङ्कारों के अतिरिक्त अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों की सुन्दर छटा 'नैषधीय चरित' में देखने को मिलती है श्री हर्ष की अलङ्कृत में अप्रस्तुत विधान का समावेश है।

यमक अलङ्कारों का प्रयोग तो अनेक रूपों में उनके काव्य में दृष्टिगोचर होता है। कामदेव की स्तुति यमक की छटा द्वारा की गयी है जो अवलोकनीय है।

संसार के पालन-कर्त्ता, पोषण-कर्ता तथा संहार कर्त्ता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों ही उसके कामदेव की स्तुति करते है जो यमक अलंकार द्वारा प्रखर हुई।

श्लेष अलंकार से तो कवि को विशेष अनुराग रहा होगा। सच्चे पण्डित के समान द्वितीय अर्थ की तरफ संकेत करने से नहीं चूकते। श्लेष के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण नैषध के तेरहवें सर्ग के पांच नलों के वर्णन सम्बन्धी प्रसङ्ग में उपलब्ध होते है जो कि।

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी श्लेष का सुन्दर विन्यास उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। श्लेष अलंकार के माध्यम से ही उस कोलाहलपूर्ण कुण्डिनपुरी का वर्णन लालित्यपूर्ण है जहां स्वर्ग और उस नगर में कुछ भेद नही रहा।

वह कुण्डिनपुरी नगरी स्वर भेद के कारण स्वर्ग की श्रेष्ठता से भी कम नहीं है यहां पर शब्दों के अनेक अर्थ होने से श्लेष अलंकार है।

महाकवि श्री हर्ष का अर्थगौरव अपरिमित एवं चिन्तलशील है। उनकी अर्थ पूर्ण उक्तियां काव्य को अधिक प्रभावी बनाने में समर्थ है। अर्थ गौरव का एक सुन्दर। उदाहरण अवलोकनीय है।

राजा नल के बल प्रताप तथा उज्जवल कीर्ति को जब कभी ब्रह्मा देखते है तब सूर्य तथा चन्द्रमा को वृथा समझकर उनके चारों ओर परिवेश के व्याज से व्यर्थता सूचक कुण्लना लगा देते है।[1]

महाकवि श्री हर्ष राजा नल की समानता विष्णु भगवान से करते हुए उपमा में अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न कर देते है।

महाकवि श्री हर्ष ने उत्प्रेक्षाओं में अत्यधिक मौलिकता के अनुपम चमत्कार का प्रदर्शन अत्यंत सफलता के साथ किया है स्वयं के लिए संकेतिक ''उत्प्रेक्षा-कवि'' की उपाधि उन्हें बिना किसी संकोच के प्रदान की जा सकती है। एक स्थल पर नल के घोड़े से सम्बन्धित उत्प्रेक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत है।

श्री हर्ष पदलालित्य किसी से कम नही है। उनकी कोमल कान्त पदावली हठात् पाठक का मन मोह लेती है पदलालित्य की दृष्टि से उनका दृष्टव्य है-

---

1. तदोजसस्तद्यशस: स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरूते यदा-यदा ।
तनोति भानो: परिवेषकैतवात् तदा विधि: कुण्लनां विधोरपि ।। नैषध-1/14

महाकवि श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य के एकादश सर्ग में पदलक्षित के उदाहरण प्रस्तुत किए है जिनका अपूर्व सौन्दर्य देखा जा सकता है जो अवलोकनीय है।

संस्कृत के समस्त पण्डितों में पदलालित्य के लिए यह प्रसिद्ध है।

महाकवि श्री हर्ष ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। अलंकारों के विषय में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग पुष्टि की दृष्टि से ही किया है काव्य की रस धारा में अवरोधक सिद्ध होने वाले 'मुरज' चित्रबन्ध सर्वतोभद्र इत्यादि अलंकारों का प्रयोग उन्होने नही किया। पदलालित्य एवं माधुर्य की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास और यमक नामक शब्दालंकारो से श्लोकों का चमत्कृत कर दिया है। हर्ष काव्य में इस प्रकार का चमत्कार तथा पाण्डित्य पग-पग पर दिखायी पड़ता है।

श्री हर्ष के विविध शास्त्रज्ञान के सदृश ही उनका शब्द भण्डार भी विलक्षण ही है। नये-नये शब्दों का प्रयोग सूननायक प्रतीतचर, अधिगामुका तथा हसस्पुशम् तथा व्याकरण सम्मत विचित्र पदों का सन्निवेश सम्पूर्ण काव्य में विखरा पड़ा है।यह महाकवि श्री हर्ष की निजी विशेषता है।

'नैषध' महाकाव्य का अङ्गीरस श्रृङ्गार है तथा वीर, करूण, हास्य तथा अन्य रसों का प्रयोग भी कवि के द्वारा अत्यन्त सहृदयता एवं सरसता से अंग स्वरूप रस का चित्रण किया है। प्रथम, सप्तम, अष्टादश तथा विंश सर्ग में कवि ने श्रृंगार रस सम्बन्धी चातुर्य को प्रकट किया है।

करूण रस का चित्रण प्रथम सर्ग में उपलब्ध होता है तथा वीर रस का प्रयोग दशम सर्ग में उपलब्ध होता है।

महाकवि श्री हर्ष ने अपने काव्य 'नैषधीय चरितम्' में छन्दश्चयन में भी विशेष पटुता दिखलायी है। उनके छन्दोविधान पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि छन्द प्रयोग की प्रक्रिया निरन्तर विकास की ओर अग्रसर थी। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के अन्त में छन्द परिवर्तन हो जाना आवश्यक कहा गया है जैसा कि महाकवि दण्डी ने कहा भी है- ''सगैरंनतिविस्तीणैः'' श्राव्यवृतैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्सर्गान्तैरूपेतं लोकरञ्जनम्। इसी भाव पर महाकवि श्री हर्ष ने प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोकों में छन्द परिवर्तन किया है। उन्होंने द्वादस सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।

महाकवि श्री हर्ष की भावना धार्मिक थी। धार्मिकता उनके रोम-रोम में बसी थी यदि ऐसा कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी क्योंकि उन्होंने अपने महाकाव्य में यत्र-तत्र धर्मशास्त्रीय तत्वों का विवेचन किया है। देश भक्ति का स्वरूप भी मनते है इससे प्रतीत होता है कि वे एक महान देशभक्त थे-

प्रकृति वर्णन, अलंकार, नूतन पदशैया, गम्भीर अर्थगौरव, विलक्षण पाण्डित्य, रसोन्मेष, वर्णन वैशिष्टय और कल्पना का गम्भीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हर्ष काव्य को देखकर उनकी काव्य रचना की निपुणता का प्रमाण मिलता है। उनके पद्यों में एक-एक गम्भीर अर्थ छिपे हुए जान पड़ते है। क्योंकि उन्होंने शब्द और अर्थ पर विचार करके गुणों एवं अलंकारो से

सुसज्जित करके अपने महाकाव्य की रचना की जो उनकी निपुणता का परिचायक है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैषध महाकाव्य के वैशिष्टय के विषय में जो सूक्तियां प्रचलित है वे सर्वथा सत्य है। वास्तव में उनका महाकाव्य सम्पूर्ण गुणों, रसों अलंकारों और पाण्डित्य प्रदर्शनी से परिपूर्ण है। उनके विषय में जो सूक्तियां प्रचलित है उससे उनके काव्य वैशिष्ट्य की पूर्ति हो जाती है।

कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ, गौरव, दण्डी का पदलालित्य प्रशंसनीय है। किन्तु माघ कवि में ये तीनों ही गुण पाये जाते है तथा भारवि कवि की कान्ति तभी तक शोभा पाती है जब तक माघ कवि का उदय नहीं होता लेकिन नैषध काव्य के उदय होने पर कहां माघ तो, कहां भारवि। उपयुक्त सूक्ति के आधार पर नैषध महाकाव्य का स्थान अन्य महाकाव्यों के स्थान से सर्वोत्कृष्ठ प्रतीत होता है।

महाकवि श्री हर्ष ने नैषध महाकाव्य के विषय में नैषध पदलालित्यम् का वैशिष्य है। पदलालित्य सम्बन्धी वैशिष्टय ज्ञान से नैषध महाकाव्य ओत-प्रोत है नैषध महाकाव्य में प्रसाद ओज तथा माधुर्य ये तीनें ही गुण विद्यमान है। पदलालित्य के कारण संगीत्मकता तथा लयात्मकता का भी समावेश हो जाया करता है तथा श्रुति सुखद भी हो जाता है। इसकी इस विशेषता के कारण विद्वानों ने स्वीकार किया कि नैषधे पदलालित्यम्।

महाकवि श्री हर्ष एक स्वाभिमानी सम्पन्न कवि है उन्हें अपनी विद्वता तथा अपने काव्य की पूर्ण सरसता पर पूर्ण विश्वास है। अरसिकों द्वारा की गयी कटु आलोचना से वे हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने दृढ़ता के साथ इस महाकाव्य की रचना की।

उन्होंने अपने काव्य को अमृत को उत्पन्न करने वाला क्षीर सागर ही कहा है-

महाकवि श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य में दुरूह शब्दों का प्रयोग किया। उस समय विद्वानों को अहंकार था अतः। कवि ने इस महाकाव्य को रचना कर 'नैषध महाकाव्य विद्वदौषधम्' अर्थात नैषध ही विद्वानों की औषधि है। इस प्रकार विद्वानों के अहंकार को नष्ट किया है।

नैषध महाकाव्य के सभी सर्गो के अंतिम श्लोक 'आनन्द' पद का प्रयोग किया गया है जो कि चमत्कारात्पादक तथा मंगलपूर्ण भावना का द्योतक है अतः इस काव्य को आनन्द काव्य भी कहा जाता है। ऐसा करके महाकवि श्री हर्ष ने शिष्टाचार का ही पालन किया। जैसा कि भगवान नामक भाष्यकार ने कहा भी है मंगलादीन मंगलान्तनि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषा व्यायुष्यतपुरुषाणि च भवन्ति अध्येताश्च प्रवतारो भवन्तीति।

इस प्रकार वे अनेक वर्गो में श्रेष्ठ कवि स्वीकार किये गये है। क्या अलंकारों की छटा क्या अर्थ और भाव की गम्भीरता क्या अन्य लौकिक विषयों का अगाध ज्ञान गौरव, क्या पदों की मनोहारिकता, क्या

वर्ण्य विषय तथा भाषा पर उनका असीम अधिकार इन सभी वस्तुओं से श्री हर्ष को सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किया गया है तथा उनके महाकाव्य का गौरव जो संस्कृत समाज में शताब्दियों से उन्हीं की भांति सर्वोपरि स्वीकार किया गया है तथा कहा भी गया है।

इस प्रकार विवेचना की पुष्टि इस सूक्ति द्वारा हो जाती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नैषध महाकाव्य सभी दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ है हलांकि उसकी रचना की छटा को निहारने की शक्ति अथवा उससे काव्यानन्द प्राप्त करने की क्षमता साधारण काव्य प्रेमियों से ऊपरी वर्ग के काव्य रसिकों में ही है।

इस विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व महान था तथा उनकी प्रमुख रचना नैषध महाकाव्य उनके प्रकाण्ड पाडित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का निदर्शन है। इसी प्रकार नैषध महाकाव्य का स्थान अन्य महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

**नैषधीयचरितम् महाकाव्य के शास्त्रीय सन्दर्भो का संक्षिप्त संकेत :**

किसी भी साहित्यिक कृति की उत्कृष्ठता में उसमें निहित विविध आयाम उसकी श्रेष्ठता को निरूपित करते है। इन तत्वों का समग्र एकीकरण ही किसी रचना को महाकाव्य की श्रेणी में बंधित करता है।

महाकवि श्री हर्ष काव्य शास्त्र के एक महान ज्ञाता थे। शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। महाकवि श्री हर्ष भारवि परम्परा के महाकवि है

भारवि के द्वारा कलात्मकता तथा चमत्कार का जो स्वरूप सामने आया उसी का अनुसरण महाकवि श्री हर्ष ने किया।

महाकवि श्री हर्ष ने स्वयं अपने विषय में लिखा है- सुकुमार साहित्य की रचना हो अथवा दृढ़ न्याय ग्रन्थियों से परिपूर्ण तर्क शास्त्र ही मेरे रचयिता होने पर सरस्वती समान रूप से क्रीड़ा करती है। यदि पति मन को अच्छा लगने वाला हो तो कोमल शय्या हो अथवा कठोर स्त्रियों के लिए रति समान रूप से आनन्द लेने वाली होती है।[1]

इस श्लोक के द्वारा यह स्पष्ट है कि उनके अपने काव्यात्व पर पूर्ण विश्वास था। उनके महाकाव्य में सरल से सरल तथा दुरूह से दुरूह शब्दों का प्रयोग किया गया। अपने महाकाव्य के सम्बन्ध में श्री हर्ष का यह कहना है कि मैनें जो कुछ लिखा है वह विद्वत समाज के लिए लिख है। काव्य का रस रसिक ही ले सकता है। अत: उन्होंने अपने काव्य सुधी लोगों के लिए लिखा है कि महाकवि श्री हर्ष ने अपनी कविता के लिए 'महाकाव्य' ''निसर्गोज्जलं चारू नव्यं'' 'अति नव्य' आदि पदों का प्रयोग किया है और अपने महाकाव्य नैषध चरित को उन्होंने अतिशय स्वादिष्ट अर्थो को उत्पन्न करने वाला शरतकालीन चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान उज्जवल उक्तियों से भरा आद्यान्त सरस और अत्यन्त सरस और

---

1. सहित्ये सुकुमार वस्तुनि दृढ़न्याय ग्रह ग्रन्थिले ।
   तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।।
      शय्य: वाऽस्तु मृदृत्तरच्छदवती दर्भाङ्करैरास्तृता ।
      भूमिर्वा हृदङ्गमो यदि पतिस्तुलया रतिर्योषितांम् ।।

अत्यन्त स्वादिष्ट एक भी नवीन अर्थ अथवा घटना को न छोड़ने वाला रस परिपूर्ण काव्य कहा है।

अतः नैषध चरित को पढ़ने के लिए युवा तथा विद्वान होने की आवश्यकता है इस महाकाव्य को पढ़ने से उनका महावैयाकरणत्व रूप स्पष्ट होता है। मेरे द्वारा शास्त्रीय सन्दर्भो पर अध्ययन किया गया है जो इस प्रकार है-

नैषधीय चरित के शास्त्रीय सन्दर्भ के प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य में महाकाव्य की परम्परा की चर्चा करते हुए उसके उद्‌भव एवं विकास का वर्णन करते हुए उसके लक्षण, पाश्चात्य विद्वानों का मत एवं वर्गीकरण का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय में महाकवि श्री हर्ष का जीवन एवं कृर्तत्व, नैषधीय चरित और महाकाव्यों में उनका स्थान तथा शास्त्रीय सन्दर्भो का संक्षिप्त संकेत प्रस्तुत है। इससे महाकवि श्री हर्ष का जीवन-परिचय, काल-निर्धारण, रचनाओं आदि का विस्तृत रूप में उल्लेख हुआ साथ ही साथ संस्कृत साहित्य के अनेक महाकाव्यों में नैषध का क्या स्थान है इसकी चर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय में नैषध चरित के मूल आधार एवं कथावस्तु का वर्णन करते हुए उसके मूल कथावस्तु आदि का उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अध्याय दर्शन शास्त्र का है। दर्शन शास्त्र के अर्न्तगत, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, जैन एवं चार्वाक दर्शनों पर

विचार किया गया है। महाकवि श्री हर्ष सभी दर्शन के अच्छे ज्ञाता थे। इसीलिए वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक के रूप में विख्यात हैं। अतः इन सभी दर्शनों पर प्रकाश डाला गया है।

पञ्चम वेदाङ्ग एवं अन्य शास्त्रों के सन्दर्भो का है।षड वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरूक्त एवं कल्प की चर्चा करते हुए अन्य शास्त्रों में आयुर्वेद, संगीत शास्त्र सामुद्रिक शास्त्र, अश्वशास्त्र तथा कामशास्त्र पर प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्याय उपसंहार का है। इसके अन्तर्गत पूरे शोध प्रबन्ध के मुख्य-मुख्य बिन्दुओं को लेकर उस प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार अध्यायों में श्री हर्ष के काव्य में समागत शास्त्रीय सन्दर्भो की विशद विवचन की जायेगी।

# तृतीय-अध्याय

## नैषधीयचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु

# नैषधीयचरितम् महाकाव्य की कथा वस्तु

महाकाव्यों की प्रसिद्ध बृहत्रयी के अन्तर्गत नैषधीयचरित सम्मान पूर्वक परिगणित है। वह अपने रचनाकाल से ही सम्मानित्त है। अलंकृत मार्ग को चर्मोत्कर्ष पर पहुँचाने वाला यही महाकाव्य है। इसके रचयिता महाकवि श्रीहर्ष है। नैषधमहाकाव्य एक विशाल सुसज्जित प्रसाद के समान है, जिसमें सब वस्तुएं यथास्थान सुचारू रूप से अलंकृत कर रखी गयीं हैं। जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसंस्कृति तथा नागरिकता झलकती है। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाडित्य के लिए जितने प्रसिद्ध है, उतने ही वे अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियों के लिए विख्यात है। आज के आलोचक को 'परमाणुमध्या' अणिमैश्वर्यविवर्तमध्या' पदों में कृत्रिमता की गन्ध भले आवे, परन्तु पण्डित आलोचक नैषध काव्य की पाण्डित्यमयी उपमाओं पर, रमणीय रूपकों पर तथा हृदयावर्जक श्लेषों के ऊपर सदा रीझता रहा है और भविष्य में भी रीझता रहेगा। कालिदास की कोमल सूझ तथा नैसर्गिक कमनीयता के अभाव होने से हम श्रीहर्ष को तत्सम उच्चकोटि में अवश्य नही रख सकते, परन्तु पण्डित-कवियों में इनका स्थान निरापद, नितान्त ऊँचा तथा महत्त्वशाली है, और भविष्य में बना रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नही है। ऐसे ही रसिक मर्मज्ञों की ओर कवि ने स्वयं काव्य के अन्त में संकेत किया है।

संस्कृत पण्डितों ने नैषध को महाकाव्यों में अत्यधिक आदर दिया है। कुछ सीमा तक यह आदर अतिश्योक्तिपूर्ण है। किन्तु नैषध महाकाव्य सर्वथा उपेक्षणीय नही है। विशेषकर उस व्यक्ति के लिए जो महाकाव्यों के कृत्रिम शैली के चरम परिपाक का गवेषणापूर्ण अध्ययन करना चाहता है। साथ ही भारत के अस्त होते हिन्दू सामन्तवाद के दीपक की बुझती लौ देखना चाहता है। श्रीहर्ष का काव्य एक ओर सूक्तिवादी कोरे चमत्कारमय काव्यों का सच्चा प्रतिनिधि है तो दूसरी ओर सामन्तकालीन भारत के विलासी अभिजातवर्ग का चित्र खींचने में पूर्ण समर्थ है।

'नैषधीयचरित' श्रीहर्ष की सर्वाधिक चर्चित और विख्यात कृति ही नही संस्कृत और भारतीय साहित्य का एक गौरवग्रन्थ है। उनका यह 'मधुवर्षि-काव्य' है जो स्वयं उनके ही अनुसार 'चिन्तामणि-मन्त्र-सामर्थ्य' से रचा जा सका है। यह काव्य 22 सर्गो में विभक्त है। जिनमें प्राय: शताधिक श्लोक है। 17वें सर्ग में तो 222 श्लोक है केवल 13वां, 15वां और 19वां सर्ग ऐसा है जिनकी श्लोक संख्या 100 से कम है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य में 2830 श्लोक है। विभिन्न संस्करणों में इस गणना में अन्तर हैं।

## नैषधीयचरितम् की कथावस्तु का मूलस्रोत :

'नैषधीयचरित' महाकाव्य की कथावस्तु का प्राचीनतम बीजरूप हमें विद्वानों के अनुसार शतपथ ब्राह्मण 2/2/4-1-2 में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत, कथासरित्सागर, कुमारपालप्रतिबोध, लिंगपुराण 1/66,24-25, वायु पुराण 2/26/74 और हरिवंश 1/15, ब्राह्माण्ड पुराण

2/63, 173-174 आदि प्रतिष्ठित पुरातन ग्रन्थों में नल और दमयन्ती की कथा मिलती है।

इस कथा का विस्तृत रूप हमें महाभारत के वनपर्व की सुप्रसिद्ध नलोपाख्यान अध्याय 52 से 79 में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार भी इन्द्रादि चारों देवों ने दमयन्ती के पास नल को दूत बना कर भेजा था। निष्कपट भाव से काम करने पर भी असफल होकर उनके लौटने पर वे नलरूप धारण कर स्वयंवर में गये और दमयन्ती की स्तुति द्वारा प्रसन्न होकर नल के लिए आठ वर दिये। स्वर्ग को जाते समय कलि को देवों ने बहुत समझाया, परन्तु वह नल को राज्यभ्रष्ट करने के लिए द्वापर को सहायक बनाने की शर्त कर निषध देश में गया। बारह वर्ष बाद नल को मूत्र त्याग के बाद आचमन कर बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासन करते देख अवसर का लाभ उठा कर वह उनमें प्रवेश कर गया। द्यूत में अपने भाई पुष्कर से पराजित होकर वन में जाते हुए नल ने दमयन्ती का त्याग कर दिया और चार वर्षो के बाद पुनः दोनों का समागम हुआ। इन कथाओं में केवल इतिवृत्तमात्र का वर्णन किया है कि वह सजीव हो गया है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं उस कथा भाग को स्वरचित कल्पना का पुट देकर विशेषतया सजाकर उसमें चार चाँद लगा दिये है, जिनमें से नल के द्वारा पकड़े गये हंस का करूण क्रन्दन आदि मुख्य है।

'सोमदेव भट्ट' विरचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार सबसे पहले हंस को दमयन्ती ने अपना दुपट्टा फेंक कर पकड़ा। तब उसने कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, मैं कामवत् सुन्दर निषधराज नल से तुम्हारे सौन्दर्य का वर्णन

कर तुम्हारा पति होने के लिए निवेदन करूँगा। यह सुनकर दमयन्ती के हाथ से मुक्ति प्राप्त कर हंस निषधदेश में जाकर सरोवर पर स्थित नल के पास पहुँचा। वहाँ पर भी नल ने अपना दुपट्टा फेंक कर पकड़ा, तब हंस ने कहा कि पति रूप में तुम्हे चाहने वाली भीमकुमारी परमसुन्दरी दमयन्ती का सन्देश लेकर मैं आया हूँ। अतः तुम मुझे छोड़ दो। हर्षप्रद यह हंसोक्त वचन सुनकर नल से मुक्त हंस पुनः दमयन्ती के पास जाकर नल से दी गयी स्वीकृति का सुसंवाद कहकर अभिमत स्थान को चला गया और दमयन्ती ने माता के द्वारा यह समाचार पिता को सुनाया। तदनुसार पिता भीम ने भी स्वंयवर के निमित्त राजाओं के पास निमंत्रण भेजे।

नारद से दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य तथा स्वयंवर का समाचार पाकर इन्द्र, अग्नि, वरूण, यम तथा वायु ये पाँच लोकपाल नल के समीप गये, और आदृश्य होने की शक्ति देकर उनको दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजा। नल ने भी दमयन्ती के पास जाकर देवों का सन्देश कहते हुए उक्त पाँचों देवों में से किसी एक देव को पति रूप में वरण करने के लिए कहा, किन्तु दमयन्ती का नल को ही पति रूप में वरण करने का निर्णय मालूम कर नल ने अपना परिचय दिया। और उन पाँच देवों के पास जाकर सब बातों को कह दिया। उनके इस बञ्चनारहित सत्यवचन से प्रसन्न देवों ने अपने को नल का वशवर्ती होने का वरदान दिया। तदनन्तर नल के निषधदेश को वापस लौटने पर वे इन्द्रादि पाँचों लोकपाल नल रूप धारण कर स्वयंवर में पहुँचे। इधर अपने भाई से एवं परम्परागत राजाओं का परिचय पा कर क्रमशः उन्हें छोड़ती हुई दमयन्ती ने आगे जाकर एक

साथ बैठे हुए छः नलों को देखा तथा उन देवताओ को स्तुति से प्रसन्न कर नल के गले में वरणमाला पहना दी।

दमयन्ती के साथ विधिवत् विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर नल वहाँ पर एक सप्ताह ठहरने के बाद दमयन्ती को साथ लेकर अपने देश को लौटे। इधर दमयन्ती स्वयंवर में द्वापर के साथआता कलि देवों से नल को दमयन्ती द्वारा बरे जाने का समाचार सुनकर उन्हें परस्पर वियुक्त करने की प्रतिज्ञा कर नल की राजधानी में पहुँचा और नल का छिद्रान्वेषण करता हुआ रहने लगा। बारह वर्ष के उपरान्त मद्यपान करने के कारण बिना सन्ध्योपासन तथा पादप्रक्षालन किये ही सोये हुए नल के शरीर में कलि ने प्रवेश किया। जिसके प्रभाव से राजा नल दुराचार में प्रवृत्त रहने लगे आदि।

इस प्रकार महाभारत तथा कथासरित्सागर के कथांश के साथ प्रकृत नैषधीयचरितम् के कथांश का सामञ्जस्य करने पर यह स्पष्ट हो आता है कि श्रीहर्ष ने महाभारत के आधार पर ही इस महाकाव्य की रचना की ।

**कथा में परिवर्तन :**

महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के द्वारा नैषधीय चरित महाकाव्य के इतिवृत्त मे पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया है। महाभारतीय इतिवृत्त के परिवर्तन परिवर्द्धन में कवि का प्रमुख उद्देश्य महाकाव्यीय रससिद्ध एवं औचित्य का निर्वाह रहा है। इसके साथ ही महाकवि का अलौकिक कल्पना वैभव भी कारण है। जिसके कारण पूर्णतया परिवर्तन परिवर्द्धन में सफल हुए है।

संक्षेप में उनमें कुछ इस प्रकार है –

1. 'नलोपाख्यान' के प्रथम अध्याय की कथा 'नैषध' के प्रथम तीन सर्गो में है। इस परिवर्द्धन के साथ उसमें कुछ वर्णन भेद भी है। नलोपाख्यान में नल को हंस जिस उद्यान में मिला, वह एक सामानय उद्यान है। नैषध में वर्णित वह विशिष्ट उद्यान है, जहाँ पकड़े हंस को करूणाद्रवित नल ने मुक्त कर दिया और प्रत्युपकारी हंस ने नल का दूतकर्म स्वेच्छया स्वीकारा है। नलोपाख्यान में हंस की मुक्ति तब होती है जब वह दूतकर्म का वचन देता है। नलोपाख्यान में अनेक हंस दमयन्ती के पास पहुँचते है नैषध में एक ही।

2. नलोपाख्यान में दमयन्ती की सखियों से उसकी अस्वस्थ दशा का समाचार पाकर विदर्भनरेश स्वयंवर का प्रबन्ध कराते है, नैषध में समुत्थित 'विपुल कलकल' को जानकर राजा भीम पुत्री के पास पहुँचते है और लज्जावनता, विरहिणी दमयन्ती को देखकर स्वयंवर की घोषणा करते है।

3. देवों का दूतकार्य 'नलोपाख्यान' में नल ने पूर्वविश्रुत होकर किया है, प्रतिज्ञा भंग-दोष से बचने के लिए, जबकि 'नैषध' में देव-याचकों को पाकर प्रियतमा दमयन्ती का भी एक प्रकार से दान करने के लिए निषधपति हर्ष के साथ तैयार हो जाता है।

4. प्रसन्न देवों के वरदानों में भी दोनों में अन्तर है। नलोपाख्यान में प्रत्येक देव ने दो-दो वर दिये है, इस प्रकार नल को आठ वर

मिले जबकि नैषध में इन्द्र ने नल को तीन वर तथा एक वर दमयन्ती को दिये। श्रीहर्ष के नल को अग्नि ने तीन वर दिये, जिसमें एक नलोपाख्यान के समान है। यम से प्राप्त दो वरों में भी एक नलोपाख्यान में मिलता है। हाँ, वरूण के वर एक से है। नलोपाख्यान मे ं न चिन्तामणि-मन्त्र है न इससे सम्बद्ध सरस्वती का वरदान। यह वर कवि की अपनी कवि-कल्पना है। नलोपाख्यान में दमयनती को दिये गये वरों का भी उल्लेख नही है।

5. नलोपाख्यान में नल-परिणय से क्रुद्ध कलि द्वापर के साथ निषधदेश पहुँचता है और बारहवें वर्ष में उसे अपना कार्य सिद्धि का अवसर मिलता है। नल मूत्रोत्सर्ग के बाद बिना पैर धोये ही सन्ध्या करते है, और कलि उनमें प्रविष्ट हो जाता है। नैषध में कलि-निषध देश की राजवाटिका में छिपा-छिपा नल-दमयन्ती विलास को देखता है।

6. श्रीहर्ष ने दमयन्ती की सहचरी कला, काम, क्रोध, मोह, लोभ (कामसहचर), इन्द्र की दूती, वाग्देवता सरस्वती इन नवीन पात्रों की कल्पना की है जिनकी मूल उपाख्यान में चर्चा नहीं है।

7. अनेक वर्णन श्रीहर्ष की कल्पना के ही श्रेष्ठ उदाहरण है। वर्णन की समृद्धि तो श्रीहर्ष के अपार वैदग्ध तथा वैदुष्य की परिचायिका है। वृक्ष, सरोवर, नगर, हंस, हंस की उड़ान, अश्व, अश्व की गति, स्वयंवर, विवाह, विवाह का उल्लास-उत्सव, कलि के माध्यम से चार्वाक दर्शन का  प्रतिपादन काम-केलि, प्रभात, संध्या, अन्धकार,

चन्द्रोदय आदि के चित्रण कवि की अपार कल्पना -शीलता के द्योतक है, जो सर्वथा नवीन है।

8. श्रृंगार और प्रणय की विविध स्थितियों का अत्यन्त समृद्ध वर्णन स्वयं श्रीहर्ष की कल्पना है। इसके साथ ही हंस-नल-प्रसंग में कारूण्य की जो स्वाभाविकता है, वह तो कवि के विशिष्ट संवेदन की परिचायिका है।

9. नलोपाख्यान की छोटी सरल कथा नैषधीयचरित में बहुत थोड़ी ही ली गई है। नलोपाख्यान से आदि के छः सर्गो की घटना को लेकर श्रीहर्ष ने विशाल, श्लोक राशि से सम्पन्न बाईस सर्ग रचे। नलोपाख्यान के 186 छोटे अनुष्टुप छन्दो में रची गई कथा नैषध में 2830 मनोरम छन्दों में विस्तृत है।

10. नलोपाख्यान एक उपदेश कथा है जबकि नैशधीयचरित एक सरस, मनोरम महाकाव्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि रसराज श्रीहर्ष ने अपने कवित्व प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर कथा को एक शिल्पी की भांति सजाकर महाकाव्य का रूप दिया है।

**नैषध का महाकाव्यत्व :**

महाभारत के 'नलोपाख्यान' में उनतीस अध्यायों में जो नल -कथा हैं वह नल के पुनः राज्य प्राप्त करने पर पूर्णता को प्राप्त हुई है। एक स्वाभाविक स्थिति है। इसी आधार पर को लेकर यह प्रश्न उठ जाता है कि क्या 'नैषधीयचरित' एक अपूर्ण महाकाव्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि

नैषध का जो रूप आज प्राप्त है, उसमें सम्पूर्ण नलोपाख्यान नहीं है। केवल नल–दमयनती के आमोद–प्रमोद में वह समाप्त हो जाता है। 'पञ्चबाण' की उपासना के निमित्त दमयन्ती का आहवान् करता नल नरेश अपने को प्रिया के कामपूजन में सहायक परिचायक के रूप में उपस्थित कर देता है। इसके तुरन्त बाद 'काव्य–समाप्ति' का चिर्कीषु कवि नामक सुख से आशीर्वचन प्रस्तुत करा देता है। इस स्थिति में इस उपाख्यान के 'नैषधीयचरित' में पूर्ण रूप न होने के दो कारण हो सकते है। 1. श्रीहर्ष ने किसी कारण वश इतने ही कथाभाग को अपने काव्य के लिए उपयुक्त समझा।

2. श्रीहर्ष ने पूरा कथा का उपयोग करके महाकाव्य लिखा, परन्तु प्राप्त इतना ही द्वाविंसर्गात्मक होता है, शेष नष्ट हो गया।

द्वितीय मत के पोषकों का कथन है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' पुष्कर से धूत में पराजित होकर भटके नल–दमयन्ती के पुर्नमिलन और पुनः राज्यप्राप्ति पर पूर्ण हुआ था। और उसमें साठ सर्ग थे। कुछ विद्वान एक सौ तीस सर्गो की बात कहते है। इन विद्वानों की मान्यता है कि जैसे श्रीहर्ष के अन्य ग्रन्थ कालकवलित हो गये, नैषध के आप्राप्त अंश के साथ भी वैसा ही हुआ।

नैषध एक अपूर्ण महाकाव्य है इसकी पुष्टि के लिए विद्वानों ने तीन तर्क दिये है। 1. इस महाकाव्य का नाम 'नैषधीयचरित' है। अर्थात यह एक 'चरितकाव्य' है। जिसमें नायक का पूर्ण चरित होना चाहिए। नलचरित पुनः राज्यप्राप्ति पर ही पूर्ण होता है। उसकी सहिष्णुता, धैर्यधनता आदि

चारित्रिक विशेषताएं नल के उत्तर चरित्र में ही पूर्वतः स्पष्ट होती है। अतः यह मानाना उचित लगता है कि धैर्यधनता और अपार कल्पना के स्वामी श्रीहर्ष ने पूर्ण चरित ही लिखा होगा, प्राप्त अपूर्ण ही है। 2. नल दमयन्ती-स्वयंवर के पश्चात् देवों ने दोनों को वर दिये थे और अम्बर में आश्रय लिया था। नैषध के वर्तमान रूप में इन वरों की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती है। 3. कलि ने कहा था कि वे विज्ञ देवों, आप मुझ कलि की यह प्रतिज्ञा नल को बता दें, कि नल को एक दिन जीतूँगा। उसे भैमी और भूमि दोनों से विहीन बना दूँगा। मेरे और नैषध के विरोध की प्रचण्डता का गान कविगण सूर्य और कुमुदों के वैर समान करेंगें। महाकवि श्रीहर्ष को यदि यह वैर-मान पसन्द न होता तो वे उसे क्यों लिखते? यदि वे इसे व्यर्थ समझते थे, तो कलि-प्रसंग की ही उपेक्षा कर देते, सत्रहवें सर्ग की आवश्यकता ही उस स्थिति में नही थी। श्री नीलकमल भट्टाचार्य ने नैषधीयचरित' की अपूर्णता अथवा खंडितता के पक्ष में प्रायः इन्ही तर्को का सहारा लिया है।

इसके विरूद्ध 'नैषधीयचरित' के वर्तमान रूप में ही पूर्णता के पक्षपाती सबसे पहले तो 'नैषधीयप्रकाशटीका' के विद्वान कर्ता नारायण ही है। इनका मानना है कि श्रीहर्ष ने नल के उत्तर चरित्र का वर्णन इसलिए नहीं किया कि वह नीरस है। उसमें नायक की बुरी दशा का वर्णन है। उसके वर्णन से रस-भंग होता, और काव्य सहृदयों के अहलाद के निमित्त होता है। उन्हें दुःख देने के लिए नहीं। अतः महाभारत आदि में वर्णित सम्पूर्ण नल-चरित का उपयोग श्रीहर्ष ने किया है।

'साहित्यविद्याधरी' में भी कहा गया है कि काव्य सहृदयों की मनस्तुष्टि के निमत्त होता है। जो स्व-रस से ही सम्पन्न होती है। यह स्वरसता जितना कथांश वर्तमान नैषध में है, उस कथा के एक देश में ही है, सो श्रीहर्ष ने यही अपना काव्य पूर्ण कर दिया।

श्री नीलकमल भट्टाचार्य के अपूर्णता के आधार का खण्डन उपर्युक्त मतों के आधार पर कर दिया गया है। महाकवि श्रीहर्ष रससिद्ध अमरकवि है, वे इतिहास व घटनाओं के लेखक मात्र नही है। घटना वर्णन मात्र से कविपद प्राप्त नहीं होता।

महाभारत की भाँति किसी वृहदश्व मुनि द्वारा विपद्ग्रस्त युधिष्ठिर को 'विपदि धैर्यम्' की शिक्षा देने के लिए कहा गया यह 'नलोपाख्यान' नही है। यह 'नैषधयीचरित' सहस्रधारकलश श्री' देव की मधुवर्षा से रसिक सुधीजन को 'रसोर्मिमज्जनसुख' देने वाला श्रृंगारोज्जवल महाकाव्य है। सम्भावना यही है कि 22 सर्ग में ही नैषध पूर्ण है, जितनी भी टीकाएं है द्वाविंश सर्गात्मिका ही है।

## नैषध-संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा का गौरव :

आदि कवि वाल्मीकि रचित आदि महाकाव्य 'रामायण' से जिस संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा का समारम्भ हुआ, कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमार सम्भव' भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध से जो पुष्टि हुई, श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' उस परम्परा का एक गौरव-ग्रन्थ है। पुण्यश्लोक निषधनरेश नल के पवित्र चरित्र को आधार बनाकर लिखा गया यह महाकाव्य इस परम्परा की अन्तिम महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है।

कहा तो यहाँ तक गया है कि नैषध-काव्य के सम्मुख न माघ कवि का काव्य ठहरता है, न भारवि का -उदिते नैषधेकाव्ये क्व माघः क्वच भारविः।"

## नैषधयीचरित महाकाव्य :

नैषधयीचरित महाकाव्य संस्कृत वृहत्रयी का शिरोरत्न है। सरस्वती के वरदपुत्र एवं वाणी के विदग्धविलासकविता कामिनी कान्त श्रीहर्ष द्वारा लिखित ग्रन्थों में नैषधयीचरित महाकाव्य सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। इस नैषधीयचरित महाकाव्य में 22 सर्ग है। इसकी मूलकथा महाभारत के वनपर्व के प्रसिद्ध नलोपाख्यान से बीज रूप में ही ली गयी है। क्योंकि नैषधीयचरित में महाभारत वर्णित नल-दमयन्ती कथा का थोड़ा भाग ही प्रस्तुत हुआ है। नल-दमयन्ती के विवाह और प्रणय क्रीडाओं के पश्चात् ही इस महाकाव्य की परिसमाप्ति हो जाती है। इसके आगे की कथा इस महाकाव्य की 22 सर्गो में ही समाप्ति मानते है। क्रमानुसार प्रत्येक सर्ग की कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है-

### प्रथम सर्ग :

इस सर्ग में कवि निषधदेशाधिपति महाराज नल के अलौकिक चरित, विद्याभ्यास, धर्माचरा प्रताप एवं उत्कर्ष का वर्णन सुनकर विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री दमयन्ती का राजा नल के प्रति अनुरक्त होना, उधर दमयन्ती का असामान्य लावण्य सुनकर राजा नल को उसे प्राप्त करने की अभिलाषा होना, राजा के द्वारा हंस पकड़ा जाना तथा उसकी करूणापूर्ण बातों को सुनने के पश्चात दर्याद्र राजा का उसे छोड़ना आदि घटनाओं का

वर्णन बड़े ही मनोहारी ढंग से किया गया है। नैषध के इसी सर्ग में राजा नल के अंगो का वर्णन करते हुए राजा नल के चरण हस्त तथा मुख को वर्णित करते कहते है कि उसके (राजा नल) चरण ने पद्यों के प्रति घृणा अथवा दया या अपेक्षा का भाव दिखाया औरपल्लव में तो उसके हाथ की कान्ति का लेश भी कहाँ था। शरत्पूर्णिमा का निशानाथ उसके आनन की दासता का भी अधिकारी न हो पाया।[1]

आशय यह है कि नल के अंगो का वर्णन करते कवि ने उसके चरण हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्य, हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्य, पल्लव और शारदी पूर्णिमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित कर श्रीहर्ष ने राजा नल के चरण, हाथ और मुख की कान्ति के सदृश्य किसी को नही ठहराया। राजा नल इतना सुन्दर था कि किसी से उसकी समानता की ही नही जा सकती है।

**द्वितीय सर्ग :**

राजा नल द्वारा छोड़े जाने पर हंस, इस उपकार का प्रत्युपकार करने के लिए हंस के द्वारा नल के सम्मुख दमयन्ती का वर्णन। हंस कहता है कि हे नल, आप उसे गुणों के सागर पृथ्वीपति से समुत्पन्न निश्चय रूप से लक्ष्मी ही समझिए अथवा अन्तराय होने पर भी महादेव के मस्तक पर जिसका आवास है, उस चन्द्र की कला को कौन नही जानता? अर्थात सब ही जानते है। धरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र ख्याति है।

---

1. अधारि पद्येषु तदङ्ध्रिणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे?
   तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः।

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी उसके विषय में जानते है। राजानल भी दमयनती के विषय में जानते ही होंगे।

फिर नल की अनुमति से हंस का राजा भीम की राजधानी पहुँचना और सखियों के साथ दमयन्ती को देखना आदि का वर्णन इस सर्ग में किया गया है।

**तृतीय सर्ग :**

दमयन्ती जहाँ थी, वहाँ हंस का उतरना, दमयन्ती को कुछ दूर ले जाकर हंस द्वारा मनुष्य वाणी में निषधनरेश नल का वर्णन करना कि उस राजा नल की दोनों शोभाओं देह-सौन्दर्य और धन-सम्पत्ति को देखकर कामदेव और देवराज का भी स्मरण नही करते और उसमें दोनों क्षमाओं (पृथ्वी तथा क्षान्ति) की भली-भाँति स्थिति देखकर वृद्धि में शेषनाग और तथागत बुद्ध को भी नही धरते। यह कि राजा नल काम से भी अधिक सुन्दर, देवराज इन्द्र से भी अधिक समृद्ध, शेषनाग से भी अधिक क्षमता से धरा को धारण करने वाले और तथागत गौतम बुद्ध से भी अधिक क्षामाशील है। यह सुनकर दमयन्ती का नल के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट करना तथा हंस से सहायता माँगना, उससे वादा करके हंस का नल की राजधानी लौटना वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे लन को पाना।

**चतुर्थ सर्ग :**

राजा नल के बारे में जानने के बाद दमयन्ती हमेशा राजा नल के विषय में ही सोचने लगी इससे राजा नल के प्रति उसका विषयानुराग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। स्थिति यह हो गयी कि वह चञ्चलता को प्राप्त

हुई तथा उसके बाद धीरे-धीर वह चिन्तानुराग के कारण स्थिर सी रहने लगती है। उस दमयन्ती का मुख मुस्कान के अल्पांश का स्मरण करने में भी अत्यन्त विमूढ़चित्त हो गया, उसका नयन रूप खञ्जन पंक्षी नेत्रप्रांत रूप अपने आंगन में फुदकने में भी पंगु (लगड़ा) हो गया। हमेशा प्रसन्नवदना रहने वाली दमयन्ती के मुख पर नल के वियोग में छोटी सी मुसकान भी न आ पाती है। उसके चञ्चल नयन इतने स्थिर हो गये, कि विलास की मात्रा भी उनमें न दिखती। वे चंचल खञ्जरिट से अब एक टुटही टांग वाले पक्षी जैसे वन गये। कामज्वर ने दमयन्ती को मुस्कान छीन ली, नेत्रों की लीला को तिरोहित कर डाला। कामाग्नि से व्याकुल होकर दमयन्ती द्वारा चन्द्रमा तथा कामदेव का उपालम्भ, फिर दमयन्ती को मूर्च्छा का आना, जिसका समाचार सुनकर उसके पिता राजा भीम तथा मंत्री का उसे देखने आना आदि का वर्णन इस सर्ग में वर्णित है।

**पञ्चम सर्ग :**

दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारी के समय पर्वत ऋर्षि के साथ नारद मुनि का स्वर्ग जाना, इन्द्र से दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार देना, विदर्भराज ने बेटी दमयन्ती के स्वयंवर का आयोजन किया और नारद मुनि ने इसकी सूचना इन्द्रलोक पहुँचायी। दमयन्ती के रूप की चर्चा से इन्द्र भी उसकी स्पृहा करने लगा और शची तथा रम्भा-उर्वशी आदि स्वर्गसुन्दरियों के असंतोष पर भी कुछ ध्यान न दे, उसने दमयन्ती स्वयंवर के लिए विदर्भ की ओर प्रस्थान कर दिया, उसके पीछे अग्नि, यम और वरूण भी चले। इन सब ने एक दूसरे से छिपा कर, अपनी-अपनी दूतियों को

दमयन्ती के पास भेजा, जो अनेक बहुमूल्य उपहार लेकर विदर्भराज भीम की सेवा में पहुँची। मार्ग में देवों की भेंट नल से हुई, जो स्वयं भी स्वयंवर में सम्मिलित होने जा रहा था। नल को देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने दमयन्ती को पाने की आशा छोड़ दी और खिन्न हो गये। परन्तु इन्द्र तो कपट करने में प्रवीण है, उन्होंने नल को वचनबद्ध कर इस पर तैयार कर लिया कि वह दमयन्ती के पास देवदूत बन कर जाय और ऐसा प्रयत्न करे कि दमयन्ती देवों में किसी का वरण कर ले। प्रतिज्ञाबद्ध नल ने उनका दौत्य कर्म स्वीकारा और इन्द्र ने नल को क्षमता दी कि वह इच्छानुसार अन्तर्धान हो सकें। इसी वृत्तान्त का वर्णन इस सर्ग में मनोयोग से किया गया है।

**षष्ठ-सर्ग :**

देवदौत्य-सम्पादन के निमित्त राजा नल कुण्डिनपुर पहुँचे और स्वेच्छया अदृश्य होकर उन्होने राज-मन्दिर में प्रवेश कर सात खण्ड पार करते हुए अन्तःपुर में प्रवेश किया। जितेन्द्रिय नल ने वहाँ अनेक प्रकार के रमणीय क्रिया कलाप देखे। परन्तु उनमे विकृति न आयी। वे वहाँ से चौराहे पर पहुँचे। मार्ग में माँ को प्रणाम करती दमयन्ती को उनहोने देखा, किन्तु भ्रम के कारण वे उसे पहिचान न सके, अदृश्य रहने के कारण दमयन्ती तो नल को देख सकती ही नहीं थी। घूमते-फिरते नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचे और सखी-समुदाय के मध्य-स्थित बैठी दमयन्ती को उन्होने देखा और पहिचाना। अदृश्य रूप में वहाँ स्थित नल ने देवदूतियों का आगमन देखा। अग्नि, यम और वरूण की दूतियों ने अपने-अपने प्रस्ताव दमयन्ती

के सम्मुख रखें किन्तु दमयनती के द्वारा वे स्वीकृत न हुए। इससे नल को आशा बँधी की दमयन्ती की प्राप्ति इन्हें सम्भव है। तभी इन्द्र का विशेष सन्देश लेकर उसकी दूती आयी, जिसने इन्द्र के महत्त्व का वर्णन कर दमयन्ती को पारिजात का माला भेंट की और इन्द्र को वरण करने की सम्मति दी। दमयनती ने 'मधवत्प्रसाद' ग्रहण किया, सखियों ने भी दमयन्ती को इन्द्र-वरण की सलाह दी। इससे नल की आशा शिथिल भी हुई, परन्तु दमयन्ती ने इन्द्रदूती को इन्द्र के चरणों की ही शपथ दी कि वह ऐसा प्रस्ताव पुनः न करें। दमयन्ती ने बताया कि वह मन ही मन नल का वरण कर चुकी है। नल की क्षीणाशा पुनः लौटी, नल के प्राण पुनः वापस आये जैसे उन्मत्त को बोध आ गया हो।

**सप्तम सर्ग :**

इन्द्रादि की दूतियों के निराश होकर चले जाने पर नल को यह विश्वास हो गया कि दमयनती का उसके प्रति दृढ़ अनुराग है और उसे यह प्रतीत होन लगा कि दमयन्ती अब उसे प्राप्त हो जायेगी। नल का अंग-अंग दमयन्ती को निरख-निरख कर तुष्ट और आनन्दमग्न होने लगा और मन प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया। उसने मन ही मन दमयन्ती का पर्यवेक्षण किया और विस्तार के साथ शिखा से लेकर नखपर्यन्त उसके रूप का वर्णन-विवेचन किया। अन्त में दमयन्ती पर मुग्ध वह इस निर्णय पर पहुँचा कि दमयन्ती विधाता की अनुपम कृति है। यौवन के उसके आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है। और मनोभुव ने तो उसे वर्णनातीत बना दिया है। उसका हृदय आश्चर्य और हर्ष में निमग्न हो गया, और

उचित होगा कि अब सखी समूह के मध्यस्थित दमयन्ती के सम्मुख प्रकट हो लिया जाय।

**अष्टम-सर्ग :**

दमयन्ती और उसके सखी-समूह के सम्मुख जब निषधराज प्रकट हुए तब वे सभी आश्चर्यान्वित हो मुग्ध भाव से उनकी ओर देखने लगी। दमयन्ती नल को सम्पूर्ण मुग्धभाव से निहारने लगी और अभिभूत हो गयी। बड़ी कठिनता से वह आसन छोड़ कर उठी और स्वागत करते हुए नल से उसने बैठने का अनुरोध किया और उचित तथा समानुकूल वार्तालाप किया-आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं, कहाँ जाना है? आदि। जिस प्रकार वर्षा काल से निर्झरणी जलवेग से पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार दमयन्ती आनन्द-परम्पराओं से पूर्ण हो उठ और उसकी नलनिमग्ना दृष्टि जैसे नल का आलिंगन करने लगी। बड़ी प्रसन्नता हुई दमयन्ती को, ऐसी, जैसी कि मुक्त दशा में होती है। नलरूप मुग्धा दमयन्ती ने बड़ी शालीनता के साथ नल से समयोचित वार्तालाप किया।

दमयन्ती ने जब नल के कुछ आदि का परिचय जाना तो उसे लगा कि हो न हो, वह नल ही है। आसन ग्रहण कर नल ने निवेदन किया कि वह इन्द्रादि देवों का दूत है। वे दमयन्ती के वियोग में व्यथित है। और उसके पाणिग्रहणार्थी है। समस्त सामर्थ्य से सम्पन्न देव आज दम्यन्ती के सम्मुख याचक है। आज तो देव यह समझने लगे है कि उनके पास दमयन्ती को देने योग्य कुछ नही है। अमृत भी नहीं, सुधा तो दमयन्ती की जघरों में ही है। आज तो वे अपना अमरत्व देकर भी दमयन्ती की

पाद-पदम् की शरण में जीने की इच्छा करते है। इस लिए दमयन्ती से उनका निवेदन है कि वह इन्द्र, अग्नि, यम, वरूण में से किसी का वरण करें और नल का दूतकर्म सफल बनायें। नल ने निष्कर्षत: अन्त में कहा हे भैमी! वरण करके तू या तो इन्द्र को आनन्दित कर अथवा मन्मथमग्न अग्नि का नूतन सुरत क्रीड़ाओं द्वारा उद्धार कर। यम पर दया कर अथवा वरूण का ही वरण कर। इस प्रकार राजा नल अपना दौत्यकर्म का पूर्ण निर्वहन किया।

**नवम-सर्ग :**

नल ने यद्यपि बड़ी तत्परता के साथ अपना दूतकार्य सम्पादन करते हुए इन्द्र, अग्नि, यम और वरूण में से किसी एक दिक्पाल को पतिरूप में स्वीकारने का निवेदन किया, पर दमयन्ती ने उस ओर अपनी अनिच्छा प्रकट की और नल से कहा कि 'महोदय, मैने तो आप से कुल-नाम जानाना चाहा था, पर आपने तो वह न बता कर यह सब अनपेक्षित कह डाला? क्या यह लज्जास्पद नही है? सो, कृपा करके आप वही बताइए। नल ने उत्तर दिया- कि आपकी जिज्ञासा व्यर्थ है। मैं 'हूँ' तु जो-क्या वार्तालाप में ये 'मैं' 'तू' सर्वनाम ही पर्याप्त नही है? इसके अतिरिक्त मेरा कुल यदि अनिर्मल है तो बताना अनुचित ही होगा। और यदि उच्च है तो यह दूतकर्म? जहाँ तक नाम का प्रश्न है, स्वयं अपना नाम लेना शिष्टव्यवहार नही है। सो अच्छा यही है कि आप मेरे पूर्वोक्त निवेदन पर ही विचार करें। आप का कल्याण उसी में है। परन्तु दमयन्ती ने अज्ञात कुल नामा व्यक्ति के साथ बात करने में ही असमर्थता प्रकट की और

प्रस्ताव का उत्तर देने में भी अपने को असमर्थ बताया। तब दमयन्ती की एक सखी ने बताया कि राजनन्दिनी नल में अनुरक्त है, नल के बिना वे जीवित नही रहेगीं। पर नल ने पुनः अपने प्रस्ताव पर ही दमयन्ती से विचार करने का अनुरोध किया। नल को इस पर दमयन्ती ने मृत्युदूत कहा। पुनः जब सखी ने दमयन्ती के नल के प्रति दृढ़ानुराग की बात कही तो नल ने समझाया कि देवों के विरूद्ध रहने पर नल-दमयन्ती-परिणय असम्भव है। दमयन्ती करूणापूर्ण विलाप करने लगी जिसे सुन कर नल अपनी स्थिति भूलकर, दमयन्ती को अनेक विधि आश्वस्त करने लगा और उसे पछतावा लगा कि क्यों वह देवदूत बना? इतने में ही वहाँ स्वयं हंस आ गया और उसने नल से अनुरोध किया कि वह दमयन्ती को निराश न करें। तब नल ने दमयन्ती को विचारपूर्वक व्यवहार करने को कहा और निवेदन किया कि वह देवों अथवा नल के मध्य किसी का वरण करे। नल को सम्मुख देख और प्रस्ताव सुन दमयन्ती प्रसन्न हुई और लजा गयी, पर सखी ने दमयन्ती का दृढ़निश्चय नल को बता दिया। नल स्वयं देवों के साथ अपने उपस्थित रहने की बात कहकर सारा समाचार कहने के लिए देवों के पास चल पड़ा ।

**दशम्-सर्ग :**

कुण्डिनपुरी में दमयन्ती-स्वयंवर का समारोह आयोजित होने लगा। शस्त्र ओर शास्त्रों में पारंगत, शोभा-शक्ति-सम्पन्न, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न अनेक राजकुमार अपने-अपने रथों में आरूद हो स्वयंवर में आ पहुँचे। कोई सुकुल राजकुमार आने से नही चूक रहा था। उनके यातायात से सारे मार्ग

परिपूर्ण हो गये, लगता था सम्पूर्ण धरती कुण्डिनपुरी पहुँचने का पथ बन गई है। सारा जगत जैसे उमड़कर वहाँ पहुँच गया था। योग्य भी आये, अयोग्य भी, जो बलात् हरण के लिए उद्यत् थे। स्वयंवर देखने की इच्छा मात्र से भी कुछ पहुँचे। सेवक भी पर्याप्त मात्रा में पहुँचे। सम्पूर्ण राजमार्ग ऐसे ठसाठस भर गये कि भूमि पर फेका तिल भी गिरना कठिन था। रथ, हाथी, घोड़े, सेना-इन के संचार से उड़ी धूलि  से दिशाएं ढक गयी। पूर्व, दक्षिण, आग्नेय कोण और पश्चिम दिशाओं से उनके स्वामी इन्द्र, यम, वरूण और अग्नि भी आ पहुँचे।

नल से दूतता की असफलता जानकर यद्यपि वे उदास थे। पर फिर भी वे अकृत संकल्प न हुए। उन्होंने अपना रूप नल जैसा बना लिया कि भ्रम से ही नल समझ दमयन्ती कदाचित उन्हें वर ले। विदर्भराज ने अभ्यागतों के स्वागत सत्कार सम्मान का उचित प्रबन्ध किया था। कहीं कोई न्यूनता नहीं है। कुण्डिनपुरी की सज्जा भी आकर्षक थी। स्वयंवर से पहली रात राजा दमयन्ती का सपना देखते रहे और फिर यथासमय चारो देव और राजागण सुसज्जित हो स्वयंवर सभा में गये। निषधराज नल भी उनमें थे। वो ऐसे श्रीसम्पन्न थे कि सब उपस्थित आकांक्षियों की शोभा उनके सम्मुख वैसे ही धीमी पड़ गयी। जैसे चन्द्रोदय होते ही तारों की। सभा की शोभा अपूर्व थी। सभी अतिथि उत्तम सिंहासनों पर आसीन हुए। राजा भीम को चिंता हुई कि उन समागत अभ्यर्थियों के गुणों का विवरण कौन प्रस्तुत करेगा? किसी मर्त्य से तो यह सम्भव नहीं। उन्होनें कुलदेव रथांगपाणि विष्णु का स्मरण किया, जिन्होने कृपाकर यह भार वागदेवी सरस्वती को सौपा और विष्णु का आदेश सिर माथे रख वे भीमराज के

सम्मुख जा पहुँची। राजा कृतार्थ हो उठे और सरस्वती का सत्कार किया, तथा दमयन्ती को सभा में बुलाया। दमयन्ती आयी और उपस्थित मण्डली अभिभूत हो उठी। दमयन्ती विश्व भर में अद्वितीय सुन्दरी थी। नल रूप धारी इन्द्र का निर्णय था कि इसके सम्मुख सभी अप्सरायें तुच्छ है। दमयन्ती की प्रसंसा में कहे गये वचनों का ऐसा हर्षनाद उठा कि कुछ सुनना कठिन हो गया।

**एकादश-सर्ग :**

आनन्द कोलाहल के मध्य भीम नन्दिनी दमयन्ती राज्य सभा में उपस्थित हुई। उसका मुखचन्द्र प्रसन्नता से परिपूर्ण था। और चित्त में नल की आकाक्षा थी। राज समूह देख प्रसन्न हो उठा और नयनों में अनुरागरस छलकने लगा। तन-मन से मग्न तरूण राजसमूह दमयन्ती के अंग-अंग को निहारने लगा। अंतरिक्ष में देवगण वाहनों में बैठे उस शोभा को देख रहे थे। पूर्व निश्चयानुसार वाग्देवी भगवती शारदा दमयन्ती के दक्षिण पाश्र्व में स्थित हो, उससे सांत्वनापूर्ण वार्तालाप करके स्वयं वरार्थियों का यथोचित परिचय देने लगी- ये इधर देवगण विराजमान है, उधर विद्याधर। उस ओर कीर्तिमान, यशस्वी विभिन्न दीपों के अधिपति विराजि है। सभी योग्य है।

एक से एक बढ़े-चढ़े। एक-एक करके भगवती शारदा ने सभी का उपयुक्त परिचय दिया और दमयन्ती को उपयुक्त का वरण करने की सलाह दी। किन्तु सुभांगी दमयन्ती का चित्त तो नल में अनुरक्त था। उसे न इन्द्र रूचा, न अन्य कोई देव, न विभिन्न उपस्थित राजमण्डली में से कोई। जैसे उपनिषद् निःसीमानंद, ज्ञान सागर परब्रह्म में तत्पर होता है,

वैसे ही दमयन्ती जिसका सौन्दर्य वागगोचर है, ऐसे पुरूषश्रेष्ठ नल के अनुचितेन में तत्पर रहीं।

**द्वादश सर्ग :**

स्वयंवर-सभा में आसमुद्र दिग्दिगन्त से और श्री श्रेष्ठ राजगण पधारे थे। एक से एक वीर, विलासी श्रृंगारी। सबके मन में आशा पनपती थी कि दमयन्ती उनका वरण करेगी। परन्तु जिसे छोड़ वह आगे बढ़ जाती, वह पूर्ण निराश हो उदास हो जाता। सनातनी वाग्देवता सरस्वती अतिमधुर वाणी में सबका परिचय देती चलीं। अयोध्या के ऋतुपर्ण, महाकुलीन पाण्डयनरेश, महेन्द्रगिरि-देश कलिंगाधिप, सौन्दर्य में कामदेव को भी पराजित करते काञ्चीपुरी के अर्धीपति, नेपाल राज्य का अधीश्वर, मलयाद्रिनरेश, मिथिलाराज, कामरूपाधिप, उत्कलेश, कीकटप्रभु आदि-आदि वहाँ पधारे थे। सबका सुविस्तृत वर्णन किया भगवती भारती ने। दमयन्ती ने किसी पर ध्यान नहीं दिया। उनका मन तो नलाभिलाषी था। वह क्यों किसी ओर ध्यान देती? चलती-चलती वह उस स्थल पर पहुँची जहाँ चारों देव-इन्द्र, अग्नि, यम, वरूण नल का रूप धरे बैठे थे, चार नल। एक नहीं चार नल दमयन्ती विस्मय और लज्जा के वश हो उधर भी दृष्टिपात न कर सकी। कुछ आगे ही नैषधराज नल भी थे। प्राण, प्रिया, जीवन की सर्वस्व भीमसुता को प्रीति और आदर के साथ निहारते। दमयन्ती ने सकटाक्ष उनकी ओर देखा।

**त्रयोदश-सर्ग :**

नलानुरक्ता दमयन्ती को शिविकावाहकों ने उस स्थल पर पहुँचा दिया, जहाँ पाँच नल विराजमान थे। एक नल तथा चार नल रूपधारी देव-इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरूण। भगवती भारती ने उनका परिचय देना आरम्भ किया। उन्होंने चारों देवो का ऐसी भाषा में वर्णन किया कि उनकी वास्तविकता भी ज्ञात हो गयी और नलरूप धार का कपट भी प्रकट न हुआ। काव्य-कला की दृष्टि से यह वर्णन अत्यन्त चमत्कारी है।

सम्मुख पांच नलों को देखकर तथा वर्णन सुनकर दमयन्ती सन्देह में पड़ गयी कि इनमें वास्तविक नल कौन सा है? अनिश्चय के कारण उसे बड़ा संताप हुआ। उसे वास्तविक नल को भी नल मानते संकोच लगने लगा। दमयन्ती के सम्मुख पाँच-पाँच नल उपस्थित थे एक नहीं पाँच नल। यदि वह चाहती तो किसी को भी चुन लेती, किन्तु वह 'नलरूप' पर तो आकृष्ट थी ही नहीं कि जहाँ नल देखा और तुष्ट हो गयी। वह रूप-गुण समन्वित वास्तविक नल चाहती थी। सम्पूर्ण नल, केवल नलरूप नहीं। अनुराग जन्मांतर के कर्म का फल होता है। वह वाह्य नही , अंतस् की वस्तु है। दमयन्ती को स्वर्णहंस का स्मरण आया। कहाँ है। वह प्रियसन्देशवाही, जो वास्तविक नल का ज्ञान करा सके? उसने बार-बार बड़ी शंका के साथ पाँचों को देखा, पर भेद दृष्टिगत न हो सका। उसने देवों का स्मरण किया, जिनकी सदा आराधना की थी। उन्हें उपालम्भ दिया। कल्पद्रुय से याचना भी उसे व्यर्थ प्रतीत हुई। वह सोचने लगी कि भगवती के हाथ में ही वरण माल्य दे दूँ, और निवेदन करूँ कि वे ही

उसके गले में माला डाल दें, जो वैरसेनि नल हो, अथवा इन पाँचों के बीच माल्यार्पण कर दूँ और कह दूँ कि आप पाँचों में जो वस्तुतः नल हो, मेरी माला ग्रहण कर ले। किन्तु ऐसे लज्जाहीन हो जाने में बड़ी हँसी होगी। लगता है कि इनमें अन्तिम पञ्चम ही वस्तुतः नल है। क्योंकि इसे देखकर लगता है मन जैसे सुधासागर में अवगाहित हो रहा है। परन्तु मन में अनेक संकल्प-विकल्प करती दमयन्ती किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। उसका मुख उदास और निष्प्रभ हो उठा जैसे सूर्य से पराभूत चन्द्रमा हो।

**चतुर्दश-सर्ग :**

अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करती दमयन्ती ने नल-विषयक सन्देह के निराकरणार्थ अन्त में देवाराधना का ही निश्चय किया। श्रद्धा के साथ नाम ले लेकर उसने देवों को नमस्कार अर्पित किया और फिर ध्यान और भावना के बल से देवों का मन में साक्षात् करती उसने सबको आश्चार्यान्वित बनाते हुए देवों का सविधि पूजन प्रारम्भ किया। तत्काल रचित गीति छन्दों द्वारा स्तुति की और पुनः ध्यान किया। देव तो पहले ही दमयन्ती से प्रसन्न थे, वे दमयन्ती की थोड़ी सी आराधना से प्रसन्न थे, वे दमयन्ती की थोड़ी सी आराधना से प्रसन्न हो गये। संतुष्ट दमयन्ती ने अब सरस्वती की श्लिष्टोक्तियों पर विचार किया और समझा कि भगवती ने कृपापूर्वक कितनी चातुरी से नल का परिचय दे दिया था। अब उसने भूमि दर्शन, निमेषनिमीलन, स्वेद, माला की म्लानि-अम्लानि, छाया-छायासाहित्य के आधार पर देवों और नल को पहिचान लिया और नल के कण्ठ में माला डाल देने का विचार किया, किन्तु लज्जा वश

ऐसा न कर सकी और उसने सरस्वती की सहायता चाही। भगवती क्रमशः देवों को प्रणाम कराती उसे नल के समीप ले गयी। क्योंकि देवों की प्रीति आवश्यक थी। देवों के निकट जाते समय दमयन्ती ने भ्रम पड़कर कुछ संकोच दिखाया, परन्तु सरस्वती ने हंस कर उसकी शंका दूर कर दी कि वह उसे देवों के समीप इसलिए ले जा रही है कि वे प्रसन्न हो उसकी कल्याण-कामना करें। देवी ने देवों को सम्बोधन करके कहा कि हे लोकपालों, दमयन्ती 'एकभर्तृका' साध्वी है। आप पाँचों में से एक को वरण कर, शेष को अपना विरोधी नही बनाना चाहती है राजा नल आप सबका सम्मिलितांश है। अतः दमयन्ती उसका ही वरण कर रही है। विधाता ने आप लोगों का दौत्य करते नल के कण्ठ में अनजाने ही माल्यार्पण कराके स्वयंवर पहिले ही करा दिया है। देवों ने मंद हास्य द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए दमयन्ती द्वारा नल वरण की अनुमति दी। दमयन्ती ने माल्यार्पण किया। नल के वक्ष पर पड़ी वह वरमाला आधे बाहर, आधे भीतर कामबाण सी प्रतीत हुई। नलवरणानंतर गमनेच्छुक इन्द्रादि नल के समीप पहुँचे। इन्द्रादि देवों ने अपना-अपना उचित विधान करते हुए प्रसन्नमना नल-दमयन्ती को अनेक वर दिये। इन्द्र ने कहाकि हम सब देव प्रत्यक्ष शरीर से तुम्हारे यज्ञों में सम्मिलित होंगे। तुम दोनो को तादात्म्य प्राप्त होगा। तुम्हारे नाम से काशी के निकट 'नलपुर' नगर ख्यात होगा। अग्नि ने समृद्धि और भोजन बनाने की कला का वर दिया और पाकाग्नि के नलवशीभूत रहने का आशीष। यम ने सदा विजयी और धर्म पर स्थिर रहने का नल को वर दिया, तथा वरूण ने इच्छानुसार मरूस्थल को जलमग्न करने की सामर्थ्य तथा कर स्पर्श से ही पुष्पों को अम्लान तथा

सुगंधित बनाने की शक्ति दी। भगवती भारती ने सिद्ध मंत्र 'चिन्तामणि' दिया और नल के 'पुण्यश्लोक' रहने का वर। दमयन्ती से सन्तुष्ट भगवती और देवों ने उसे आशीष दिया कि तुम पतिव्रता हो, हमारा बचन है। कि जो तुम्हारे पतिव्रता भंग की चेष्टा करेगा वह भस्म हो जायेगा। देवादि धरती से छोड़ स्वर्ग गये, और नल-दमयनती परिणय का आनन्दोत्साह विदर्भपुरी में व्याप्त होने लगा।

**पञ्चदश-सर्ग :**

देव और भगवती सरस्वती नल-दमयन्ती को विभिन्न वर देते हुए अपने-अपने धाम गये और प्रसन्न नल स्तुतिकर्ता बन्दीजनों को स्वर्ण-रत्न लुटाते अपने शिविर लौटे। अन्य राजाओं के चारणों ने नल की निंदा की कि यह बड़ा निर्लज्ज है, सभा में स्त्री-सम्बन्ध को स्वीकार रहा है। भले ही यह सुन्दर हो, पर ऐसे व्यक्ति सुखी कहाँ होते है? किन्तु प्रशंसक चारणों के उच्च स्वरों के बीच नल के कानों में ये वचन नही पड़े। प्रसन्न होते विदर्भपति भीम ने राजमहिषी को यह संवाद देकर उसकी उत्सुकता शान्त की, और रत्नाभूषणों से समलंकृत बेटी दमयनती को जामाता नल को अर्पित करने का समारम्भ प्रस्तुत करने को कहा। मंगल गान होने लगे, लग्न शोधी गयी। नल को सूचित किया गया। उनहोंने सादर प्रस्ताव स्वीकार शीघ्र ही प्रासाद में पधारने का निश्चय सुना दिया। चौक पूरा गया, घर-घर, द्वार-द्वार मोतियों और मणियों से सजा दिये गये। प्रजाजन ने हर्ष से स्वभवनों को सजाया। वाद्य बजने लगे- झाल-मजीरे, वीणा-सितार, बाँसुरी, नगाड़े पखावज। घन, तत, सुषिर और आनद्धवाद्य।

दमयन्ती को कुलाचारानुसार स्नान कराया गया। उसने वस्त्रालंकार पहिने, श्रृंगार हुआ। काजल-आलता लगा। गुरूजनों ने आशीष दिये। उधर नल के सेवकों ने उसका श्री श्रृंगार किया। वस्त्र आभूषण, चन्दन, तिलक, मण्डित नल को देख प्रतीत होता था कि वे दिग्दिगंत-विजय के यश-प्रताप की वर्षा कर रहे है। रथारूढ़ नल राजप्रासाद की ओर चले। प्रसन्नचित नागरिकाएं वर-शोभा को देख-देख मग्न हो रही थी। वे दमयन्ती के चुनाव को सराहने लगी। नल तो अद्वितीय है। इसके सम्मुख देवराज भी गण्य नही है। नल दमयन्ती का मिलन यशस्वी और शुभ हो। और आनन्दोत्सव से परिपूर्ण नगरी के मार्गो में नागरिकाओं को गोदमग्न करते नल विवाह-संस्कार के निमित्त राजप्रसाद की ओर बढ़ते चले।

**षोडश सर्ग :**

श्रृंगार करके निषधराज नल मंगलाचार स्वीकारते पुरोहित ऋषि गौतम के नेतृत्व में अनेक रथियों के साथ रथारूढ़ हो भीमराज के महल की ओर चले। चामरधारिणी चवँर डुला रही थी। उनकी वरयात्रा में अनेक राजा भी अपने दल-बल के साथ सम्मिलित थे। विदर्भराज की ओर से अनेक राजा आगवानी करके नल को शीघ्र लिवा ले गये। और भीमराज के सुसज्जित द्वार पर नल और उनकी बारात जा पहुँची। बड़ा कोलाहल हुआ। दमयन्ती के भ्राता दम ने विनीत भाव से अर्ध्य-पद्यादि समर्पित कर नल का स्वागत-सत्कार किया और भुजा फैलाकर भीम ने नल का इस प्रकार आलिंगन किया जिस प्रकार तरंगमाली सागर गंगा-प्रवाह का आलिंगन करता है। विधि-विधान के साथ भीमराज ने अपनी शिवा नन्दिनी दमयन्ती

पुरूषोत्तम नल को दे दी। मधुपर्क पान हुआ। पाणिग्रहणाचार सम्पन्न हुआ। दहेज में इतना धन, रत्न, हाथी घोड़े दिये गये कि उनकी गणना सम्भव नहीं थी। ध्रुव अरून्धती दर्शन कराये गये। वृहस्पतितुल्य सांग विधि के ज्ञाता गौतम ऋषि ने भलीभाँति पौरोहित्य का निर्वाह किया। तदनंतर वर-वधू कौतुकागार में प्रतिष्ठित हुए। बारातियों को बड़ी प्रसन्नता और हंसी-दिल्लगी से भांति-भांति के व्यञ्जनों से सम्पन्न भोजन कराया गया। हास-परिहास, भोजन-पान कई दिनों तक होता रहा। अन्त में दमयन्ती की विदाई हुई। पुत्री और गुणी, अनुरूप जामाता का वियोग विषादकारी होता ही है। रोते हुए भीमराज ने दमयन्ती को शिक्षा दी कि आज से राजा नल ही तेरे सर्वस्व है। इन्हें ही आज से अपना सब कुछ मानना। सुखपूर्वक यात्रा करते दम्पती यथा समय अपनी नगरी में पहुँचे, जहाँ उनकी प्रतीक्षा हो रही थी। बड़ा स्वागत हुआ और नगर आनन्दमय हो गया। पौरकन्याओं की आचारलाजा वर्षा और देवों की पुष्पवृष्टि को सादर स्वीकारते नल दमयन्ती ने नव निर्मित प्रासाद में प्रवेश किया।

**सप्तदश सर्ग :**

नव विवाहित दम्पत्ति नल दमयन्ती के प्रासाद प्रवेश के अनन्तर चारों इन्द्रादि देवों ने धरती पर मारे-मारे फिरना व्यर्थ समझा। यद्यपि उनका पृथ्वी पर आना व्यर्थ हो गया था, तथापि दमयन्ती द्वारा नल का वरण उनके विशेष विषाद का कारण नहीं बना। वे तेजोस्प देव अपने रत्नजड़ित विमानों पर यात्रा करते ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे कैलाश के जटों पर सूर्य के अनेको प्रतिबिम्ब हो। मार्ग में व्यर्थ प्रयास देवो का भगवती

सरस्वती ने वीणा बजा कर मनोरञ्जन किया। उन्हे एक भीड़ मिली। भीड़ के आगे आता काम दिखा, क्रोध, लोभ और मोह दिखे। उन्होने वेद-विरोधी नास्तिक शिरोमणि चार्वाक के वचन सुने, जिन्हे सुन चारों देव अत्यन्त क्रुद्ध हुए। तभी देवों ने रथ पर बैठे द्वापर और कलि को देखा। देवों के सहसा यों मार्ग में मिल जाने से पहले तो कलि लज्जित और संकुचित हुआ। उसके बाद मदान्ध हो वह अवज्ञापूर्वक उनका कुशल-समाचार पूछ, परम्परा का निर्वाह करते हुए कहने लगा कि उसे क्षमा करें, वह इस समय शीघ्रता में है। और दमयनती को पाने के निमित्त जा रहा है। देवों ने उससे कहा कि उसकी शीघ्रता व्यर्थ है। दमयन्ती स्वयंवर समाप्त हो चुका है। और नागों और देवों को असुन्दर तथा नीच और अन्य नरों को वानर समझते हुए निषधेश्वर नल का दमयन्ती ने वरण कर लिया है। यह सुनते ही कलि क्रोध से अन्धा हो उठा और उसने सम्पूर्ण देव समाज की भांति-भांति से भर्त्सना और निन्दा की। उसने कहा कि दमयन्ती का यह कार्य अत्यन्त अनुचित है। तुम लोग भी विचित्र हो, जो नल पर कोप न कर मुझ पर ईर्ष्यालु हो रहे हो। मैं उस महापराधी नल को छल कर आज ही दमयन्ती को लाता हूँ। और अच्छा हो कि हम-तुम पाँचों मिलकर उसका वैसे ही भोग करे जैसा कि पाँच पाण्डव द्रोपदी का। तुम मेरी इस कार्य में सहायता करो। इस पर भगवती सरस्वती ने उसे बहुत फटकारा, परन्तु उस पर ध्यान न दे, वह देवों से बोला कि मैं दमयन्ती का विचार तो छोड़ देता हूँ पर नल को भैमी और भूमि दोनों से वंचित कर दसे अवश्य पराजित करूंगा। कलि के साथी द्वापर ने उसका समर्थन किया। इन्द्र ने उन दोनों को इस

अनौचित्य के लिए बहुत समझाया तथा तीनों देवों ने इन्द्र का समर्थन किया। कलि तथा द्वापर को बताया कि तुम दोनों नल का कुछ भी नही बिगाड़ सकते। इस पर कलि ने सबका बड़ा उपहास किया। और बड़ा विवाद किया। अन्त में देव उससे विवाद करना व्यर्थ मान अपने गंतव्य पर बढ़े और द्वापर के साथ कलि निषधदेश की ओर जब कलि निषध की राजधानी पहुँचा तो वेदपाठ, यज्ञ, श्राद्धतर्पण, बलि-विधान, गायत्री-आवाह्न करते ब्राह्मण आदि को देख तथा असत्य, हिंसा, कलह आदि को न पा बड़ा खिन्न हुआ। कहीं आश्रय न पा एक उद्यान में कलि-द्वापर पहुँचे। नल प्रासाद के निकट उन्होने एक बहेड़े के वृक्ष पर आश्रय लिया। और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। उधर नल-दमयन्ती आनन्दमग्न हो रहे थे।

**अष्टादश-सर्ग :**

देव स्वर्ग गये। कलि अवसर की प्रतीक्षा में गृहोपवन में 'विभीतक' वृक्ष पर डेरा डाले रहा। और इधर आनन्द तथा प्रीति के सागर में आमग्न राजदंपती नल-दमयन्ती अनेक रत्नों और मणियों से जड़ित कांचनगिरि सुमेरू से प्रतिस्पर्द्धा करते राजप्रासाद में शची और इन्द्र के तुल्य कामाराधना में तल्लीन हुए। क्रमशः धर्म-अर्थ को सिद्ध करके पृथ्वी-मण्डल के इन्द्र राजा नल ने पृथ्वी की शची दमयन्ती को तृतीय पुरूषार्थ कामरूप समुद्र को पार करा देने वाली नौका के सदृश्य पाया और अपार उल्लास के साथ दिन-रात उद्दाभ विलास-लीला चलने लगी। धीरे-धीरे नवोढ़ा दमयन्ती की लज्जा पर बड़े यत्न और कलाकुशलता के साथ राजा नल ने

जय-प्राप्ति की और परम तृप्ति के साथ उनका अभिरमण लीलायित होता चला।

**एकोनविंश-सर्ग :**

प्रासाद में नल-दमयनती सुख-निद्रा का आनन्द ले रहे थे कि रात्रि बुढ़ा गई। प्रभात फूटने लगा और राजमहल में वैतालिकों की सरस वाणी में निषधराज को बिबोध देने के निमित्त प्रभात वर्णन होने लगा। महाराज जयी हो, प्रभात सुषमा को निहार कर कृतार्थ करें। शैय्या से उठकर प्रथममंगल रूपा विदर्भकुमारी के मुखारविद का अवलोकन कीजिए। क्योंकि प्रियजन के मुखावलोकन से बड़ा कोई मंगल नही होता। प्रतीची दिशा को प्राप्त कर निस्तेज चन्द्र को देख पूर्वा दिशा मुस्करा उठी है। धीरे-धीरे सूर्य की किरणें गगनमण्डल में व्याप्त हो रही है। पत्तों पर मोतियों को तिरस्कृत करती ओंस की बूँदे दमक रही है। वेद-ध्वनि गूँज रही है। जागिए, महाराज, हे तपोमय, प्रातःसन्ध्या आपका स्मरण कर रही है। सूर्य की किरणें आकाश को अरूण बना रही हैं।

प्रभातोद्‌बोधन देते बंदिजनों के सम्मुख प्रासाद के अन्तःपुर की सहचरियो ने बहुमूल्य आभूषण ला रखें। और उन्हें सूचित किया कि उनके प्रातर्बोधि से देवी (दमयन्ती) अत्यन्त सन्तुष्ट हुई है। और अपने शरीराभूषणों का प्रसाद पारितोषिक में भेजा है। मणि-मणिक्यादि जड़े उन आभूषणों को प्राप्त कर वंदिजन कृतार्थ हो गये और उन अलंकारों को अपने अंगो पर पहिन लिया। उन्होंने देखा कि महाराज नल तो गंगास्नान से निवृत्त हो यौतक में प्राप्त पुष्पक से भी अच्छे रथ पर चढ़कर लौटे

आ रहे है। उनहें ज्ञान ही नही हुआ कि महाराज कब जागे और कब प्रासाद से बाहर गये?

**विंश-सर्ग :**

मंदाकिनी स्नान करके लौटे महाराज नल ने पुन: प्रासाद में प्रवेश किया। जहाँ महारानी दमयनती ने, सागर लहरी जैसे चन्द्र का स्वागत करती है, वैसे ही सहर्ष आगवानी की। महाराज ने उन्हें आकाश गंगा का स्वर्ण कमल उपहार में दिया। दमयन्ती ने उसे सादर स्वीकारा । क्षणिक वियोग से भी अनमनी हो जाती दमयन्ती से महाराज नल ने अग्निहोत्रादि अवशिष्ट कार्य सम्पादन की आज्ञा चाही। क्षण भर का वियोग सहने में विरक्त दमयन्ती को लक्ष्य करके विभतक पर छिपे कलि ने मन ही मन कहा कि अरी मूर्खे, तू क्षण की वियोग से डरती है, मै जल्दी ही तुझे लम्बा वियोग देने वाला हूँ। दमयन्ती नल को छोड़ अपनी सखी के समीप चली गयी। और राजा ने पूजा-अर्चना सविधि सम्पन्न की तत्पश्चात् वे चुपचाप दमयन्ती के निकट पहुँचे और अपने हाथों से उसकी आखें बन्द कर ली। अनुमान से दमयन्ती ने समझ लिया कि प्रिय के हाथ है और उन्हें छुड़ा कर वह चुप-चाप बैठ गयी। दमयन्ती की सखी ने महाराज नल से कहा कि महारानी को महाराज की वास्तविकता पर तब विश्वास होगा, जब वे कुछ ऐसा अंतरंग कह सुनायें, जिसका ज्ञान केवल महारानी-महाराज को ही है। नल ने अनेक रात में सम्पन्न रति-रहस्य कह सुनाये। ऐसे ही रस-रंग-प्रसंग में जब प्रणयाकुलता बढ़ गई, तो संकेत से, व्याज से सखियों को बाहर भेज दिया गया। आलिंगन-चुम्बन के पश्चात् जब नल नीविपर

हाथ रखा, तो महारानी उठकर बाहर चली गयी। मध्याहन हो गया था और वंदिजन का मध्याह्न-आवाहन सुनकर महाराज ने तत्कालीन कृत्यों के निमित्त पर्यक-त्याग किया।

**एकविंश-सर्ग :**

महारानी दमयन्ती के प्रासाद से बाहर आते निषधाधिपति नल की अनेक नृपति प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होने प्रणाम करते हुए अपने मुकुटों की मालाएं मानो महाराज नल के मार्ग में बिछा दीं। प्रणत होते राजाओं पर स्मितविकीर्ण कर महाराज ने उनका नमस्कार ग्रहण किया। अनेक नृपतियों ने महाराज की सेवा में रत्नमणि भेंट किये। अंगुलि और भुसंकेत मात्र से उन्हें स्वीकारते निषधराज ने तुरन्त उनका उन्ही में वितरण करा दिया। मध्याह्न स्नान आरम्भ हुआ। पहले अनेक पीनपयोधरा तरूणी सुन्दरियों ने सुगंधित जल से उन्हे स्नान कराया पुनः पुराहित ने तीर्थजलों से उनका अभिषेक किया। अर्चना-पूजा से निवृत्त हो महाराज ने ब्राह्मणों को रत्न स्वर्ण-गो-दानादि समर्पित किया और तत्पश्चात् भोजन किया और उनके भोजन करने के पश्चात् महारानी दमयन्ती ने गौरी आदि का पूजन कर भोजन किया। भोजनोपरान्त राजा-रानी ने विश्राम किया। अपरान्ह बेला बीत गयी और सन्ध्या घिरने लगी। उच्च प्रासाद स्थित दमयन्ती ने क्रीड़ानदी के तट पर रात्रि आगमन की संभावना कर नियुक्त होते चकवायुगल की ओर संकेत कर उसके विषय में नल का ध्यान आकृष्ट किया। दमयन्ती के सुधा-सममधुर वचनों को सुन नल को अत्यन्त हर्ष हुआ। और वे अनेक विधि प्रिय, चाटुवचनों से प्रिया को रिझाने लगे। नानाविध प्रशंसा और

श्लाघा से प्रिया को प्रसन्न कर वे उसका ध्यान उसकी परिहास कुशल सखियों के अन्वेषण में लगाकर, इस व्याज से सायं विधि संपादनार्थ प्रासाद से बाहर चले गये।

**द्वाविंश-सर्ग :**

महाराज नल ने संध्याकालीन विधि-विधान पूरा किया। अस्ताचल गये सूर्य की लाली से अभी पश्चिम दिशा लाल थी। उस लालिमा ने नल को प्रिया के लाल लाल होठों का स्मरण करा दिया और वे दमयन्ती के सतखण्डे महल में जा पहुँचे। स्वागत करती प्रिया के पर्यक पर वे बैठ गये। और प्रिया को भी निकट बैठा लिया। सांध्य-सौन्दर्य से रमणीय पश्चिम दिशा की ओर दमयन्ती को ध्यान आकृष्ट करते उन्होंने नाना प्रकार से सांध्य सुषमा का वर्णन किया। धीरे-धीर रात्रि का अन्धकार छाने लगा। और तारे चमकने लगै तथा चन्द्रादय होने लगा। राजा ने अब रात्रि के अन्धकार का वर्णन छोड़ चन्द्र वर्णनारम्भ किया। उदयागिरि शिखर की यवनिका से निकलकर चन्द्रमा चांदनी बरसाने लगा। नल की इच्छा थी कि प्रिया भी इस चन्द्र-चन्द्रिका की सुषमा के बारे में कुछ कहे और इस प्रकार उसके मधुर बचनामृतपान से वह तृप्ति प्राप्त कर सके। नल द्वारा प्रेरित दमयन्ती ने चन्द्रोदय से उद्वेलित सागर के वषिय में उद्भावना की कि यह समुद्र दो किरणों से बढ़ रहा है। चन्द्रकांतमणियें के पिघलने से और विरही कोकयुगल के अश्रु प्रवाह से । प्रिया की पीयूषवर्णिनी वाणी सुन राजा नल आनन्द से जैसे जड़ हो गये। और मुग्ध हो उन्होने प्रिया के चन्द्रमुख को चूम लिया। वे बोले यह चन्द्रकलंक वास्तव में मृग है,

जो दमयन्ती के स्वर पर मुग्ध है और चन्द्र को दमयन्ती का मुख समझ कभी उससे अलग नही होता, किन्तु प्रिया मुख चन्द्र से श्रेष्ठ है। नल ने कामना की यह चन्द्र हम सबके परमानन्द का कारण बने, सहस्राधार कलश से अमृतानन्द की वर्षा करता। हम तुष्ट हों ।

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि माकवि श्रीहर्ष नलोपाख्यान के मूल कथा से नल-दमयनती की बीज रूप कथांश ग्रहण कर अपने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का प्रदर्शन करके उसे चमत्कारिक ढंग से विद्वत्तजनों के सम्मुख प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुए है।

# चतुर्थ-अध्याय

## नैषधीयचरितम् महाकाव्य में दार्शनिक तत्त्व

# नैषधीयचरितम् में दार्शनिक तत्त्व

श्रीहर्ष एक उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान थे। उनके द्वारा रचित महाकाव्य नैषधीयचरितम् में विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनेकानेक सिद्धान्त पल्लवित पुष्पित हुए है। नैषधीयचरित महाकाव्य में उपलब्ध दार्शनिक तत्त्वों को ग्रहण करने से पूर्व 'दर्शन' शब्द का यथार्थ अर्थ एवं विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के विषय में जानना आवश्यक है।

साधारणतया 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु के करण अर्थ में 'ल्युट' प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है- जिसके द्वारा (देखा जाय, ज्ञान प्राप्त किया जाय) जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढ़ता के सम्बन्ध में विशेष और ज्ञान दिया जाय। वहाँ दर्शन शब्द का प्रयोग उचित है। दर्शन शब्द की एक व्युत्पत्ति और मिलती है - 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात जिसके द्वारा सम्यक् रूप से देखा जाय वही दर्शन है। दर्शन के विषय में मनु ने भी कहा है- "जो व्यक्ति दर्शन के सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न रहता है। वह कर्म जाल में नही फंसता और जो दर्शन से विहीन है अर्थात् जिसे दर्शन का सम्यक् ज्ञान नही होता है। वह संसार को प्राप्त होता है अर्थात् संसार के महाजाल में फस जाता है।[1]

---

1. सम्यक् दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न विबद्व्यते ।
   दर्शननेन विहीनस्तु संसार प्रतिपाद्यते ।। मनुस्मृति 6/47

दर्शन को शास्त्र भी कहा जाता है। 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति इससे –शासनात् ज्ञसनात् शास्त्रं' से प्राप्त होता है। 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से बनी है-शास् अर्थात आज्ञा करना और शस् अर्थात वर्णन या प्रागट करना।

दार्शनिक 'दर्शन' शब्द का साधारण अर्थ स्वकीार नहीं करते बल्कि विशेष अर्थ को आत्मसात् करते है। उनके अनुसार 'दर्शन' दृश्यावलोकन नही अपितु तत्त्वावलोकन है। इससे यह स्पष्ट है कि दर्शन तत्त्व के स्वरूप का ज्ञान है, विषयों के स्वरूप का परिचय मात्र नही। अत: 'दर्शन' का दूसरा नाम 'तत्त्व दर्शन' भी है। क्योंकि तत्त्वबोध करना ही इसका प्रमुख कार्य है। तत्त्व को ही दार्शनिक अन्तिम सत्य की संज्ञा देते है। अत: तत्त्व दर्शन सत्य दर्शन भी कहलाता है। इस आधार पर जिसके द्वारा तत्त्चवज्ञान अर्थात् सत्ता के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान या आत्मदर्शन हो सके उसे 'दर्शन' कहते है। उपनिषद काल में इसी 'आत्मदर्शन' के अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग होता रहा है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' में लिखा है कि 'सुवर्ण के पात्र से सत्य का मुख ढ़का हुआ है। हे पूजन! आप उस आवरण को हटा दीजिए, जिससे सत्य का दर्शन हो सके।[1] छान्दोग्योपनिषद में भी आत्मदर्शन के अर्थ में 'दृश' धातु का प्रयोग हुआ है।[2] इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दर्शन में

---

1. हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम् ।
   तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। ईशावास्योपनिषद
2. आत्मा वाऽरे दृश्टव्य । छान्दोग्योपनिषद

वस्तुतः आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, जगत, कर्म इत्यादि अवधारणाओं का अध्ययन किया जाता है।

## भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय :

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय दो वर्गों में बँटा है। प्रथम आस्तिक और द्वितीय नास्तिक । आस्तिक दर्शन उसे कहते है जो वेद की प्रमाणिकता में विश्वास करता है। ठीक इसके विपरीत नास्तिक दर्शन उसे कहते जो वेद को प्रमाण नही मानता। इस प्रकार आस्तिक का अर्थ है वेद का अनुयायी और नास्तिक का अर्थ है वेद सम्मत न करना।

आस्तिक दर्शन के कोटि में मुख्यतः सांख्य, योग, न्याय, वैशेषित, मीमांसा और वेदान्त दर्शन आते है। जबकि नास्तिक दर्शन के कोटि में चार्वाक, जैन, बौद्ध दर्शन आते है। इन दर्शनों में काफी आपसी मतभेद है किन्तु विभिन्नताओं के बावजूद भी इन दर्शनों में सर्वनिष्ठता का पुट है। कुछ सिद्धान्तों की प्रमाणिकता प्रत्येक दर्शन में अन्तर्निहित है।

इन दार्शनिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैदिक साहित्यों, उपनिषदों, विभिन्न धर्मशास्त्रों, पुराणों एवं गीता इत्यादि में भी दार्शनिक सिद्धान्तों की बृहत् कड़ी मिलती है।

## नैषधीय चरितम् महाकाव्य में दार्शनिक सन्दर्भ :

महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य में प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का किसी न किसी रूप में उल्लेख अवश्य किया है। उन्होंने अपने दूसरे ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' में विरोधी मतों का परिहार करते हुए वेदान्त मतानुयायी 'अद्वैत ब्रह्म' की सार्थकता सिद्ध की है। नैषध महाकाव्य

में प्रायः सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का सांगोपांग वर्णन हुआ है। हर सर्ग में कोई न कोई दार्शनिक सिद्धान्त अवश्य मिलता है। परन्तु नैषधीय चरित् महाकाव्य का 17वां सर्ग तो मानों ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई दार्शनिक ग्रन्थ ही हो। जिसमें चार्वाक दर्शन के अनेकानेक मत प्राप्त होते है।

यहाँ पर नैषधीयचरितम् महाकाव्य में प्राप्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय के मतों एवं नैषध में उपलब्ध तत्सम्बन्धी सन्दर्भो का उल्लेख किया जायेगा।

## सांख्य दर्शन :

सांख्य शब्द का सम्बन्ध तत्त्वों की संख्या से है, क्योंकि सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्वों की गणना की गयी है। सांख्यदर्शन कारण और कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। कहने का अर्थ है कि इसके अनुसार कारण से ही कार्य उत्पत्ति सम्भव है। और कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। कार्य कारण के विषय में सांख्य के इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद के नाम से अविहित किया जाता है। किन्तु इसमें एक प्रश्न अवश्य उठता है कि उत्पन्न कार्य अपने कारण से भिन्न है या अभिन्न? तात्पर्य यह है कि कार्य का स्वरूप क्या है? कार्य उत्पन्न होने से पहले अपने कारण में था या नही? यदि उत्पन्न होने से पहले कारण अपने कार्य में था तो कार्य नया आरम्भ नहीं है। इसका केवल कारण से आविर्भाव हुआ है, आरम्भ नहीं। एक दूसरा पक्ष भी है जो यह मानता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति तो अवश्य होती है किन्तु उत्पन्न कार्य अपने

कारण से बिल्कुल भिन्न है। कार्य तो एक नया प्रारम्भ है। पहला पक्ष सत्कार्यवाद कहा जाता है तथा दूसरा पक्ष असत्कार्यवाद।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है जो यह मानता है कि कार्य सत् है। यह सत् कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में सत् था। अतः यह कहा जा सकता है। कि कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ सत् कारण से सत् कार्य का आर्विभाव है। यदि कार्य अपने कारण में पहले से नही रहता तो इसका आविर्भाव सम्भव नही होता। उदाहरणार्थ देखा जा सकता है कि यदि तिल के कणों में तेल पहले से विद्यमान नही रहता तो तिल से तेल पैदा ही न होता। यही सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद है।

विद्वानों ने 'सांख्यान्ते गणयन्ते येन् तत् सांख्यम्' प्रकृति पुरूषान्य ताख्याति रूपोऽव बोधो साम्यग्याज्ञाते येन् तत् सांख्यम् इस प्रकार सांख्य में संख्या तथा ज्ञान दो अर्थ किये गये है। सम्भवतः इसीलिए भागवत में इसे तत्त्व सांख्यायन या तत्त्वगणन कहा गया है। दूसरा अर्थ है सांख्य का तत्त्व ज्ञान। यह तत्त्वज्ञान प्रकृति-पुरूष, शरीर और आत्मा, जड़ एवं चेतन के पृथकता का ज्ञान है। गणना तथा ज्ञान दोनों अर्थो का उल्लेख महाभारत में भी किया गया है।[1] सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरूष का विशेष महत्त्व है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने सत्कार्यवाद के पक्ष में पाँच हेतु का उल्लेख किया है। उनके अनुसार कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य (कारण में) अवस्थित रहता है। क्योंकि 1. असत् या अविद्यमान रहने की स्थिति में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती 2. उसके उपादान कारण का

---

1. संख्या प्रकृर्तते चैव, प्रकृति च प्रचक्षते ।
   तत्त्वानि च चतुर्विशत् तेन संख्या प्रकीर्तितम् ।। (महाभारत)

ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियत रूप से सम्बन्ध होता है। 3. सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नही हो सकते 4. जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है। एवं 5. कार्य कारणात्मक अर्थात् कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है।[1] आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी अपनी टीका सांख्यतत्त्वकौमुदी में सत्कार्यवाद को प्रमाणिक बताते है 'कार्य कारण व्यापार के पूर्व उपादान कारण में अवस्थित रहता है यह प्रमाणसिद्ध है।[2] वाचस्पति मिश्र ने वेदान्तियों के विचारों का खण्डन करके सत्कार्यवाद का मण्डन किया है।

महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधमहाकाव्य में सांख्य शास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धान्त सत्कार्यवाद का प्रमुखता से वर्णन किया है। सत्कार्यवाद का सम्बन्ध कार्य और कारण से है। कारण ही जिसमें उत्पत्ति से पूर्व कार्य उपस्थित रहता है तथा वह कार्य के रूप में प्रगट होता है। नैषध महाकाव्य में इसका उल्लेख इन्द्रादि दिक्पालों के सम्बन्ध में मिलता है। नैषध के पांचवे सर्ग के 94वें श्लोक में इन्द्र आदि दिक्पालों को याचक रूप में सामने खड़े देखकर खुशी में राजा नल कहता है- ''हे देवतओं कार्य और कारण में विशेष भेद नहीं है। मनुष्य का शरीर अन्न से उत्पन्न होता है। यह सत्य है अमृतपान करने वाले आप लोगों का शरीर देखकर मेरे नेत्र अमृत से

---

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवभावात् ।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। सा0 का0 9 ।।
2. तस्मात् सत्कार्यमिति पुष्कलम्-सांख्यतत्त्वकौमुदी ।

निमग्न हो जाते है।[1]" तात्पर्य यह है कि सुधा में स्नान करने से जो मिलता है ठीक उसी प्रकार आप (इन्द्रादि दिक्पालों) लोगों को देखने से मिल रहा है। अतः यहां अमृत कारण तथा उन इन्द्रादि का शरीर अमृत भक्षण करके उत्पन्न होने से कार्य है। अतः अमृतमयी शरीर के देखने से ही अमृतदर्शन के समान आनन्द होना स्वाभाविक है।

प्रशस्त टीकाकार आचार्य मल्लिनाथ ने अपनी टीका में लिखा है- जन्य जनकयोः कार्यकारणयोर्व्य तिभेदो नास्ति, कार्य स्वोपदानादभिन्नमित्यर्थः। जनदेहः अन्नजनित मुक्ताहार परिणाम श्चेत्येत दुभयं सत्यमित्यर्थः।

इसी सत्कार्यवाद का एक बार फिर उल्लेख करते हुए महाकवि श्रीहर्ष परशुरामावतार के प्रसङ्ग में नैषध में उद्धृत करते हुए लिखा है- परशुराम के अवतारों की स्तुति करते हुए राजा नल कहते हैं कि सृष्टि की रचना के समय ब्रह्म रूप में रहने के कारण ही तुम्हारे दोनों भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई है तथा इन्हीं दोनों बाहुँओ ने क्षत्रिय जाति का नाश किया।[2]

सुना गया कि प्रजापति (ब्रह्मा) का मुख-ब्राह्मण, भुजा-क्षत्रिय, जाँघे-वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। तात्पर्य यह है कि "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।" इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय-जाति की उत्पत्ति का कारण

---

1. नास्तिजन्य-जनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
   वीक्ष्य वः खलु तन्ममृताऽदां दृङ् नियज्जनमुपैति सुधायाम्।। नै० 5/94 ।।
2. क्षत्रजातिरूदियाय भुजाभ्यां या तदैव भुवनं सृजतः प्राक्।
   जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्।। नै० 21/63 ।।

ब्रह्मा की भुजाएं है। परशुराम के अवतार की बाहुंओ से किया। यह कार्य होना उचित ही था। क्योंकि कारण में ही कार्य का लय होता है।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कार्य कारण में ही विद्यमान होता है- ''नाशः कारण लयः'' कारण में कार्य का लय होना ही नाश है। 'भरतमुनि' ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। 'महाभारत' में भी कहा गया है कि अपनी-अपनी उत्पत्ति के कारण में सभी का शमन निश्चित है।[1] इससे भी भुजाओं से क्षत्रियजाति के लय का औचित्य प्रतिपादित होता है। जाति को नित्य भी माना जाता है। इस प्रकार की मान्यता के अनुसार 'उत्पत्ति-विनाश' संगत नहीं दिखाई पड़ते है। इसके परिहार में यह कहकर समाधान करते है कि उदय-लय का तात्पर्य ''अविर्भाव-तिरोभाव'' मान कर औचित्य उपयुक्त प्रमाणित हो जाता है।

यहाँ पर एक बार पुनः महाकवि श्रीहर्ष ने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का उल्लेख दमयन्ती के पूजन के रूप में पुनः रूप में स्पष्ट करते है- ''दमयन्ती ने देव-पूजन के बाद एकाग्रचित होकर हृदय-कमल रूप आवास में इन इन्द्रादि देवों को बुद्धि के द्वारा स्थापित कर पुनः ध्यान से साक्षात्कार किया।[2]'' क्योंकि देवों की जो स्पष्ट भावना (ध्यानादि के द्वारा साक्षात्कार) है वह फलभावना (कार्यसिद्धि) का पूर्वरूप है।

---

1. अद्भ्योऽग्निब्रह्मातः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
   एषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु येनिषुं शाम्यति।। (शांतिपर्व महाभारत) ना0 शा0
2. हृत्पद्मसद्मन्यधिवास्य बुद्धया दध्यावथैतानियमेकताना।
   सुपर्वणां हि स्फुटभावना या सा पूर्वरूपं फलभावनायाः।। नैषध 14/6 ।।

कार्य के पहले कारण का होना अति आवश्यक होने से यहाँ पर देवों के साक्षात्कार का समस्त होने से यहाँ पर देवों के साक्षात्कार का समस्त कार्यों के प्रति कारण होने से दमयन्ती ने पहले कारण सामग्री रूप देव की प्रत्यक्षता को ध्यान से किया।

तात्पर्य यह है कि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कार्य के पहले कारण का होना आवश्यक होने से दमयन्ती ने यहाँ पर ध्यानादि के द्वारा एकाग्रचित होकर इन्द्रादि देवों का साक्षात्कार किया। तथा उसी ध्यान के द्वारा उसकों देवों का साक्षात्कार हुआ।

प्रशस्त टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है- सर्वगतानामपि देवानां हृदये बुद्धया। समारोपितं रूपध्यानेन साक्षाद कृतेति यावत्। हि यस्मात्सुपर्वणां देवानां या स्फुटा भावनां ध्यान बलेन प्रत्यक्षता सा फलभावनायः कार्यसिद्धे पूर्वरूपं प्रथमं स्वरूपम्। कारणस्य कार्यपिक्षया नियतप्राग्भा वित्वाछवानां प्रत्यक्षतायाः कार्यमात्र प्रतिकारणत्वात्कार्यकारणसामग्री रूपां देवतां प्रत्यक्षतां ध्यानेनाकृतेत्यर्थः।

आचार्य मल्लिनाथ ने भी भी श्रीहर्ष के इसी आशय को स्पष्ट को स्पष्ट किया है। इससे यह पता चलता है कि महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध में सांख्यकारिका के सत्कार्यवाद को अधिक बल देते हुए इसी सिद्धान्त का वर्णन अपने पद्यों में किया है।

**योग :**

आत्मोन्नति के साधन रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद, स्मृति,

पुराण सभी में योगाभ्यास की चर्चा है। साधारतः 'योग' शब्द सम्बन्धवाचक है किन्तु योगशास्त्र में चित्तवृत्तिनिरोध रूप में योग समाधिवाचक है।[1]

'योग' शब्द 'युज्' धातु से निष्पन्न होता है- ''युज्यतेऽसौयोगः'' अर्थात् जो युक्त करे अथवा मिलाये उसे योग कहते है। योग दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने ''योगस्समाधिः' कह कर योग को समाधि बतलाया है। जिसका यह भाव है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मा का साक्षात्कार करे।

योग दर्शन पूर्ण रूप से ईश्वरवादी है। योग दर्शन के मूल प्रर्वतक महर्षि पातञ्जल है जिन्होंने योग सूत्र का प्रणयन किया है। पातञ्जल सूत्र चार पादों विभक्त है। पहला 'समाधि' पाद कहलाता है। इसमें योग के स्वरूप, उद्देश्य और लक्षण, चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय तथा विभिन्न प्रकार के योगों की विवेचना की गयी है। दूसरा पाद 'साधनापाद' कहा जाता है। इसमें क्रिया-योग, क्लेश, कर्म-फल और उनका दुःखात्मक स्वभाव, दुःखादि चतुष्टय (दुःख, दुःख का निदान, दुःख की निवृत्ति और दुःख निवृत्ति का उपाय आदि विषयों) का वर्णन है। तीसरा 'विभूति-पाद' कहलाता है। इसमें योग की अंतरंग अवस्थाओं तथा योगाभ्यास जात सिद्धियों का वर्णन किया गया है। चौथा पाद 'कैवल्य-पाद' कहलाता है। इसमें मुख्यतः कैवल्य या मुक्ति के स्वरूप की विवेचना की गई है।

---

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो. सू. 1/2

सांख्य और योग में घन्ष्ठि सम्बन्ध है। सांख्य के सिद्धान्त का व्यवहारिक जीवन में प्रयोग ही योग है। सांख्य के अनुसार विवेक-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। योग इस बात को मानता हुआ बतलाता है कि योगाभ्यास ही विवेक-ज्ञान का साधन हे। आत्मा और जगत के विषयों में सांख्य दर्शन ने जिन सिद्धान्तों को निरूपित किया है योग दर्शन भी उसी का समर्थक है। सांख्यकार के मतानुसार योगकार भी पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है। योग दर्शन में पुरुष निशेष छब्बीसवें तत्त्व के रूप में है।

योग-दर्शन का मानना है कि संसार दुःखमय है। जीवात्मा का मोक्षोपलब्धि के लिए एकमात्र उपाय योग हैं ईश्वर नित्य, अद्वितीय एवं त्रिकालातीत है। योग के अनुसार देवों एवं ऋषियों को योग के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। योग दर्शन को कर्म योग भी कहा जाता है। इसमें साधक को मुक्ति के लिए समुचित कर्म का पक्ष प्रदर्शक भी योग ही है।

नैषध में श्रीहर्ष ने योग दर्शन का उल्लेख करते हुए हंस के माध्यम से ''योगशास्त्र'' की पवित्रता को बताते हुएउसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखते है- ''ब्रह्मा के चारों मुख से उच्चरित होने के कारण पवित्र हुए समाधि शास्त्र (योग शास्त्र) पूर्ण कानों से युक्त, मै जिस वार्ता को हृदय में गुप्त रखता हूँ। वह अन्य किसी के पास नहीं जाती है।[1]''

---

1. वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरून्धे।
   विरञ्चिनानाननवाद्धौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः।। नैषध 3/44

कहने का तात्पर्य यह है कि योग शास्त्र को सुनने से मेरे कान पवित्र हो गये है। इसलिए किसी की बात किसी दूसरे से नहीं कहता हूँ जिसका हृदय कलुषित होता है वही दूसरे की बात दूसरे से कहता है जिस प्रकार कुलटा भी मेरे द्वारा बलपूर्वक रोक ली जाती है वह दूसरे पुरुष के पास नहीं जाती है।

उपरोक्त पद्यार्थ से यह स्पष्ट है कि योगशास्त्र के श्रवण से हृदय का पवित्र होना कवि को मान्य है।

नैषध में महाकवि श्रीहर्ष में योग विभूति का वर्णन किया हैं महर्षि पातञ्जलि ने योगविभूति का प्रतिपादन करते हुए लिखा है- बन्ध-करणशैथिल्यात् प्रचार संवेद नाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। सिद्ध योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है। महाकवि श्रीहर्ष ने भी नैषध के छठवें सर्ग में दमयन्ती के अन्तःपुर में भ्रमण कर रहे राजा नल का योग विभूति के द्वारा वर्णन कर उसी भाव को प्रतिपादित किया है- "वियोगी वह राजा अदृश्य होकर माणिक्य भूमि में अपने प्रतिबिम्ब से काय-समूह का विस्तार करते हुए दूसरे के पुर(शरीर) में प्रविष्ट होते हुए योगी के समान सुशोभित होने लगे।[1]"

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार योगी अदृश्य होकर अपने देह-समूह का विस्तार करता है किन्तु वियोगी अपने विषयों से विरक्त होता है।

---

1. भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु।
 पुरं परस्य प्रविशन् वियोगीयोगीवं चित्रं स रराजराजा।। नैषध 6/46

कहने का भाव यह है कि राजा नल विरह से इतने व्याकुल थे कि उन्हें (उस समय) अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं था।

आचार्य मल्लिनाथ का भी यही आशय है कि योगी अपने योग बल के द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में अणिमा आदि सिद्धियों के माध्यम से प्रवेश कर जाते है।

महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध में पुनः एक श्लोक में इसी भाव को प्रदर्शित किया है- स्वयंवर सभा में पांच नलों को देखकर दमयन्ती मन में अनेक विकल्प करती हुई उसी योगविभूति का उल्लेख करती है-"अथवा विकासशील यह नल ही शरीर समूह बनाकर मेरे साथ परिहास कर रहा है? विज्ञान के वैभव वाले उस नल की घोड़े के हृदगत भाव को जानकारी के समान वह विद्या (शरीर समूह धारण करने की कला) नहीं है क्या?[1]"

अर्थात् नल क्रीडापरायण था, संभव है दमयन्ती के साथ हास-विलास करने के लिए उसने अनेक शरीर रच लिये हों। नल के काव्यव्यूहविधान विद्या-अनेक देह रच लेने का इन्द्र-जाल जानने की पूरी संभावना है। वह घोड़ों के मनोभाव समझ लेता है, अनेक कलायें उसे आती है। अवश्य नल ही यह परिहास कर रहा है। वह बड़ा बहुरूपिया है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार योगी अदृश्य होकर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है उसी भाव को दमयन्ती स्पष्ट करती हुई कहती है

---

1. किं वा तनोति मयि नैषध एव काव्यव्यूहं विधाय परिहासमसौ विलासी?
विज्ञान वैभवभृतः किमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव।। नै0 13/42

विज्ञानवेत्ता राजा को जिस प्रकार घोड़े की हृदगत भाव को जानने की विद्या प्राप्त है उसी प्रकार शरीर समूह धारण करने की विद्या प्राप्त है। अर्थात अलग-अलग रूप बना कर योगी के समान राजा नल ने भी दमयन्ती के समक्ष अपने पाँचों रूप धारण किये।

योग दर्शन में समाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है।- 1. सम्प्रज्ञात समाधि 2. असम्प्रज्ञात समाधि। दूसरे शब्दों में इन्हें निर्विकल्पक और सविकल्प, सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते है। जिस समाधि के द्वारा संशय, विपर्यय आदि से रहित यथार्थ रूप से ध्येय विषय का ज्ञान हो, वह सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार अंग बताये गये है, अर्थात् सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है-वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दनुगत एवं अस्तिमानुगत। इन चारों अवस्थाओं में ध्येय रूप विषय का आलम्ब अवश्य रहता है तथा इन अवस्थाओं में अनर्थ का बीजभूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि समाधि इन अवस्थओं में कुछ अज्ञान अवश्य ही बीजरूप में शेष रह जाता है जिसके कारण इसका नाम सबीज समाधि है।[1] इसके विपरीत जब समस्त चित्तवृत्तियों का विरोध हो जाता है तो उसे 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहते है। इसी को निरोध समाधि भी कहते है। क्योंकि इसमें किसी का सच्चा स्वरूप नहीं रहता इसे पर वैराग्य भी कहा जाता है जिसकी प्राप्ति निरन्तर अभ्यास से ही हो सकता है।[2] यह चित्त की स्वरूप मात्र शेष अवस्था है। इस अवस्था में प्रज्ञाजन्य संस्कार भी नष्ट हो जाते है। सभी वृत्ति, प्रवाह तथा उसमें जन्य संस्कारों

1. सा एव सबीजः समाधि। यो0सू0 1/46
2. निराप्रत्याभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्य। यो0सू0 18

के पूर्णतः नाश के कारण ही इसे निर्बोध समाधि या असम्प्रज्ञात योग कहते है।

नैषध-महाकाव्य में श्रीहर्ष ने योग दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख किया है। भगवान् विष्णु की स्तुति करते हुए राजा नल सम्प्रज्ञात-समाधि में लीन हो जाते है- "(वे नल) विष्णु के प्रति ऐसा कह कर अर्थात ऐसी प्रार्थन कर 'सम्प्रज्ञात' नामक समाधि से तन्मय भावना वाले होते हुए भावनावश देखे गये विष्णु में प्रेम तथा भक्ति के योग्य नृत्य गीत आदि का आचरण करने लगे।[1]"

तात्पर्य यह है कि प्रेमी भक्त सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा भगवान् का ध्यान करता है और तन्मय हो भगवान् का दर्शन प्राप्त करता है। नल ने भी ऐसा ही किया तथा भगवान श्री विष्णु को साक्षात् कर प्रेमी-भक्त के समान गदगद हो नृत्य-गीतादि करने लगे। साकार भगवान् की स्तुति करने से नल को सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा भक्ति करने को कहा गया है।

इस प्रकार उपरोक्त सन्दर्भो से यह स्पष्ट होता है कि श्रीहर्ष योग दर्शन के ज्ञाता थे। अपने योगदर्शन के ज्ञान को श्रीहर्ष ने समाधियों के द्वारा व्यक्त किया है तथा रसयुक्त कर वर्णन किया है।

### न्याय दर्शन:

अन्य दर्शनों की तरह न्याय दर्शन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है, अर्थात जीवन के दुखों का नाश किस तरह किया जाय इसका उपाय

---

1. इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासिततमः समपादि।
   भावनावशविलोकित विष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः।। नै0 21/104

ढूढ़ना। न्याय का व्यापक अर्थ विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्त्व की परीक्षा करना है। इस सम्बन्ध में वात्स्यायन कहते है कि– 'प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।[1]''

एक अत्यन्त विशिष्ट अर्थ में 'न्याय' को प्रतिज्ञा हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक पदार्थानुमान के पंच अवयव में परिभाषित किया गया है। इसके विपरीत एक संकुचित अर्थ में न्याय शब्द का प्रयोग प्रमाणों के अत्यन्तम पदार्थ अनुमान के लिए किया जाता है। न्याय के अध्ययन से युक्ति युक्त विचार करने तथा आलोचनात्मक विचारों में अभिवृद्धि होती है, अतः इसे अन्वीक्षिकी भी कहते है। अन्वीक्षा का अर्थ प्रत्यक्ष एवं आगमन पर आश्रित अनुमान या प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण की सहायता से ज्ञात विषय की अनु (पश्चात) ईक्षा (ईक्षण या पर्यालोचन या ज्ञान) अनुमान प्रक्रिया में हेतु का महत्व सबसे अधिक होता है। अतः इसे हेतु शास्त्र भी कहते है। प्रमाण की मीमांसा करने से न्याय दर्शन को प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है। निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि न्याय का प्रमुख उद्देश्य प्रमाणों द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना और प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना।

न्याय दर्शन के प्रतिपादक महर्षि गौतम है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ 'न्याय सूत्र' का मुख्य विषय लक्ष्य प्रमाण और प्रमेय के विशेष ज्ञान से निःश्रेयस को प्राप्त करना परन्तु जब संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति स्थानों

1. ''प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः''

का विशेष रूप से ज्ञान नहीं होगा हमें प्रमेय का उपयुक्त ज्ञान नही हो सकता हैं। महर्षि गौतम का कथन सर्वथा उपयुक्त है कि उपर्युक्त सोलह पदार्थो के तत्त्व ज्ञान ही मुक्ति के साधन है।

परमाणु आत्मा और ईश्वर जगत के इन तीन आधारभूत कारणों का सम्यक प्रतिपादन न्याय का प्रमुख विषय है। जीव मुक्ति अर्थात मोक्ष प्राप्ति की सबसे बड़ी बाधा असत्य या भ्रामक ज्ञान है, जिसका विनाश तत्व ज्ञान से होता है। न्याय दर्शन का मूल वाक्य- ''ज्ञान के विना जीव मुक्ति सर्वथा असंभव है।[1]'' न्याय दर्शन में यर्थाथ ज्ञान को सवोच्च स्थान प्रदान किया गया है।

महाकवि श्रीहर्ष के ग्रंथ में प्रमाण-प्रमेय का उल्लेख मिलता है। उन्होंने अपने महाकाव्य में यर्थाथवादी परमाणु, आत्मा, ईश्वर जगत इनके आधारभूत तथ्यों की विवेचना किया है।

न्याय दर्शन में कार्य के सिद्ध होने के तीन कारण है[2]-

1. समवायि कारण

2. असमवायि कारण

3. निमित्त कारण

उपरोक्त तीनों कारणों को एक उदाहरण द्वारा व्याख्यायित करते है।

---

1. ऋते सत्यान्न मुक्तिः
2. कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यां परिकीर्तितम्।
   समावायिकारणं ज्ञेयमथाप्यसमवायि हेतुत्वम।
   एवं न्यायनयज्ञैतृतीय मुक्तं निमित्त हेतुत्वम्।। भा0प0 17

"कुम्भकार घट का निर्माण करता है।"

उपरोक्त उदाहरण में घट के निर्माण में मिट्टी समवयि कारण, दण्ड एवं चक्र असमवायि कारण और घट का निमार्णकर्ता कुम्भकार निमित्त कारण है। "जिसमें कार्य स्वरूपतः हो, वह समवायि कारण कह लाता है।[1]" समवायि कारण के गुण कार्य में समवेत रहते है परन्तु असमवायि एवं निमित्त कारण के गुण समवेत नही प्राप्त होते है। दण्ड एवं चक्र का लाल, हरा या नीला होने पर भी घट के रंग पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता चूंकि यह असमवायि कारण है। इसी प्रकार कुम्भकार के काले या गोरे होने पर भी घट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि वह निमित्त मात्र है।

न्याय के इस कारण सिद्धान्त को महाकवि श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही मनोहारी वर्णन किया है।

चक्र भ्रम गुण कलश में अपने निमित्त कारण दण्ड से उत्पन्न हुआ है क्योंकि वह कलश दमयन्ती के उच्च कुम्भो (स्तनद्वय) से होता हुआ प्रभा प्रवाह से चक्रवाक होने का भ्रम उत्पन्न कर रहा है।[2]"

न्यायशास्त्र के कारण सिद्धान्त के अनुसार समवायि कारण का गुण कार्य में आता है। कलश में मिट्टी का ही गुण है किन्तु निमित्त का गुण कार्य को प्रभावित नही करता है। महाकवि श्रीहर्ष के उपरोक्त वर्णन इस सिद्धान्त के एमदम विपरीत कल्पना है। कुम्भकार का चाक घुमाना अपने

---

1. यत्समवेत कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तन्। भा0प0 18
2. कलसे निज हेतुदण्डजः किमु चक्र-भ्रम कारिता गुणाः।
   स तदुच्च कुचो भव-प्रभा-झर-चक्र भ्रममानोति यत्।। नै. 2/32

विभिन्न कारण भूत दण्ड का गुण ही कार्य रूप में परिवर्तित हो गया है। यहां यह स्पष्ट होता है कि वह दमयन्ती के उन्नत स्तनद्वय होकर प्रभा समूह से कुम्भकार के चाक का भ्रम कराता है। दमयन्ती के विशाल स्तन को देखकर सभी लोग भ्रमित हो जाते है और सोचते है कि यहां चकवा पक्षी प्रवाह में घूम रहे हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्य मल्लिनाथ स्पष्ट करते है।- अत्र समवायि कारण गुणा रूपाद्वय: कार्य्ये संक्रामन्तिन निमित्तगुणा इति तार्किकाणां समये स्थिते ग्रण इति चक्र भ्रम इति चोभयन्नापि वाच्यप्रतियभानोरभेदाध्य वसाय एवं स तदुच्चकुचौ भवन्निति कुचकलसयोरभेदातिशयो कत्युत्थापि तझर चक्रभ्रमात्मक किया निमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रमकारिता लक्षण निमित्त कारण गुण संक्रमलक्षणे नोत्प्रेक्षेति सङ् क्षेपा:।

न्याय शास्त्र में स्पष्ट है कि कार्य का गुण कारण में अर्न्तनिहित होता है।[1]

महाकवि श्रीहर्ष ने इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में हंस के स्वर्णिम शरीर होने का कारण स्पष्ट करते है- ''दमयन्ती को संबोधित कर हंस ने कहा- हम लोग आकाश गंगा की स्वर्ण कमलिनियों के नाल तथा मृणालों के कोमल अंशों का खाते है अत: हमारा शरीर इस तरह से शोभायमान है।[2]''

---

1. कारण गुणा कार्ये गुणाना रमन्ते।।
2. स्वर्गपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालग्रभुजो भजाम:।
   अन्ननुरूपां तनुरूप ऋद्धिं कार्य निदानद्धि गुणानधीते।। नै. 3/17

आशय यह है कि हंसो ने स्वर्ण कमल एवं मृणाल को आधारित कर स्वर्णमयी शरीर को प्राप्त किया। ज्यों ही उन्होंने स्वर्णकमल का भक्षण किया किया, त्यों ही स्वर्ण शरीर प्राप्त हो गया। यहां कारण स्वर्ण कमल तथा कार्य हंस का स्वर्णकाय हो जाना है, कारण का गुण कार्य में विस्थापित हो गया है।

इस प्रकार महाकवि भी हर्ष ने हंसो की स्वर्णकाय की अत्यन्त मनोहारी कल्पना न्यायशास्त्र के अनुरूप ही किया है।

इस सिद्धान्त को महाकवि श्रीहर्ष ने राजा नल की सर्वव्यापी प्रसिद्धि का वर्णन हंस के माध्यम से किया।-

''रणक्षेत्र में खुजलाहट प्राप्त नल की बाहुओं में जो प्रसिद्धि उत्पन्न हुई उसका दिशारूपिणी नदियों के किनारे को तोड़ने के कारण हेतु के गुणों से उत्पन्न हुआ था।[1]''

आशय यह है कि युद्ध स्थल में यश उत्पन्न करने वाले राजा नल के बाहुओं में रण कण्ड थी तो बाहुओं से उत्पन्न होने वाले यश में कण्डू आ गई जिससे वह दिशा समान नदियों के किनारों को तोड़ता है अर्थात् राजा नल का यश समग्र दिशाओं में व्याप्त हो गया।

यश के हेतु भूत नल की भुजाओं में कण्डूभाव होने के कारण कार्य रूप दिशा रूपी नदियों में भी कूलकषत्व का भाव आ गया है।

---

1. यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूभावं भजना भुजेन।
हेतोंगुणादेव दिगापगाली कूलकाषत्वं व्यसनं तदीयम्।। नै. 3/39

नैय्यायिको के अनुसार 'मन' अणु परिमाण और नित्य है। "सुख दुख आदि के ज्ञान के साधक इन्द्रिय को मन कहा जाता है।[1]"

महाकवि श्री हर्ष इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उत्प्रेक्षा के माध्यम से अश्व के पैरों में लगी हुई धूल को संकेतित करते है।

"धरती पर पड़ी टापों से उठी हुई धूल से जिस घोड़े के चरण सेवित किये जा रहे है, ऐसा लग रहा है कि जैसे घोड़े के तीव्र वेग को सीखने के लिए अणु परिमाण वाले लोगों के मन आये है।[2]"

आशय यह है कि उस समय घोड़ों की गति मानवमन की गति से भी तेज है। यही कारण है कि 'तेज-गति' की शिक्षा लेने के लिए मन घोड़ों के समीपस्थ हुआ है। अतः घोड़ा गुरू रूप में एवं मन शिष्य के रूप में उपस्थित है। मन रूपी शिष्य (मनुष्य) गुरू रूपी घोड़ो के चरणों का स्पर्श धूलि रूप में कर रहे है, ऐसा लग रहा है कि जैसे मनुष्य के मन का परिमाण भी अणु परिमित है। अतः लोगों के मन (धरती पर पटकने से सूक्ष्म रूप में विद्यमान धूल) के समान है।

नैय्यायिकों का विचार है कि अणु का परिणाम बहुत सूक्ष्म तथा अदृश्य भी होता है।[3] मत को अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है। यही कारण है कि मन ने परमाणु रूप धारण कर घोड़ों की तीव्रता को सीखा। अत्यन्त

---

1. साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।
   सुखाद्युपलब्धि साधनमिनिन्द्रयं मनः।।
2. अजस्त्रभूमी तट कुट्टनोद्गतैरूपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
   रथप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमकितैः।। नै. 1/59
3. अणु परिणामं मनः इति तर्किका। न्या. सू.

सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप होने के कारण मन को न तो कोई जान सका और न देख सका।

मन की चंचलता को स्वीकार करते हुए अर्जुन श्री कृष्ण से कहते है कि- "यह मन अत्यन्त चञ्चल प्रभथन स्वाभाव वाला बड़ा दृढ़ एवं बलवान है, अतएव इसे वश में करना वायु को रोकने के समान कठिनतम् है।[1]"

महाकवि श्रीहर्ष ने इस सिद्धान्त के परिप्रक्ष्य में हंस द्वारा नल के द्रुतगति वाले घोड़े की प्रशंसा करते हुए उन्हें मन के सहश कहा-

"नल के ये घोड़े पंखहीन गरूड़ है। ये ऐसी वायु है जिन्हें आखों से देखा जा सके और महत्वपरिणाम वाले मन है अतः घोड़े दिगन्त तक पहुंचे।"[2]

तात्पर्य यह है कि पंखो से मुक्त गरूड़ वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है अर्थात वायु तथा अणु प्रमाण मन ही सब दिशाओं को शीघ्र पार कर लेते है। नल के घोड़े पंखों से हीन होते हुए भी सभी दिशाओं को पार करने में समर्थ है। स्पष्टतः प्रतीत होता है कि राजा नल के घोड़े अत्यन्त वेगवान है।

---

1. चञ्चल हि मन कृष्णः प्रमाथिबलवददृढ़म्।
   तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम।। गी. 6/34
2. बिना पतत्रं विनतातनू जैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीमैः।
   मनोभिरासीसदनणुप्रमाणैर्न निजिता दिक्ताम तदश्वैः।। नै. 3/37

नैषध में महाकवि श्रीहर्ष ने पक्षियों के द्वारा परमाणु अर्थात अत्यन्त सूक्ष्म कमर वाली रानियों का उल्लेख किया है।[1]"–

आशय यह है कि मुख्य प्रवेश द्वार आबाध होने के कारण पक्षी समूह अन्दर प्रवेश कर गये। वहां राजा नल के अन्त:पुर में प्रवेश करने पर उन्हें परमाणु सादृश्य कटि वाली रानियों को सुन्दर गति में अधिक विशेषता सिखाते है।

यहां रानियों के कटि भाग को अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के समान कहा गया है।

नैय्यायिकों के परमाणु स्वरूप के आधार पर महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती नल के प्रेम की चर्चा करते है–

"दमयन्ती का परमाणु रूपी मन ने लज्जा रूपी गुफा में सोये शेर के समान इस युवक अर्थात राजा नल को छिपा रखा है कि जिसे महान योगी का योग भी न जान सका।[2]

आशय यह है कि योगी अपने योग द्वारा मन के समान परिणाम वाले परमाणु का तो प्रत्यक्ष कर सकता है किन्तु दमयन्ती ने अपने प्रिया अर्थात राजा नल को अपने मन में बसा लिया। अत: वह मन से भी सूक्ष्म सिद्ध हुआ, यही कारण है कि योगी जनों के लिए अज्ञेय रह गया।

---

1. अवारितद्वारतया तिरऽनमन्त:पुरे तस्य निविश्य राज्ञ:।
   गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापवयाम: परमाणु मध्या।। नै0 3/41
2. यत्पथाऽवधिरणु: परम: सा योगीधीरपि न पश्यति यस्माद।
   बालया निजमन: परमाणो हीदरोशयहरी कृतमेनम्।। नै0 5/29

न्याय दर्शन के कार्य कारण सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में श्री केशव मिश्र इसे कुछ इस तरह व्याख्यायित करते है।– " जो निश्चित रूप से कार्य से पहले (पूर्वगामी) हो तथा जिसकी सत्ता अन्यथा सिद्ध न हो उसे ही कारण कहा जाता है।

इसी तरह जो नियत रूप से कारण का उत्तरार्ध हो एवं सत्ता अन्नयथा सिद्ध न हो कार्य कहलाता है।[1]"

अति प्रेम में घिरी दमयन्ती का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से किया।–

"अपने प्रिय नल के हंस के स्वर्ण पंखो से उत्पन्न तेज ने दमयन्ती को अत्यन्त अधीर कर दिया क्योंकि जो जिसके बाद आता है वह उससे ही उत्पन्न ही माना जाता है अतः स्त्रियों की मर्यादा की विरोधिनी अधीरता को ग्रहण किया।[2]"

आशय यह है कि दमयन्ती में अधीरता का गुण हंस के पंखो की तेज से आया। पहले से ही स्पष्ट है जो जिसके बाद आता है उसी से उत्पन्न समझा जाता है। इसी प्रकार विरह में व्याकुल दमयन्ती हंस के चले जाने के बाद अपने प्रिय राजा नल से मिलन के लिए अधीर हो गयी जबकि ऐसी अधीरता को स्त्रीयोचित नही माना गया है।

---

1. अनन्यथासिद्धि नियतपूर्व भावित्वं कारणंत्वम्।
   अनन्यथासिद्धि नियत पश्चाद् भावित्वं कार्यत्वम्।। त.भ.पृ.13
2. ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतदगति वेगतः।
   स्थितिविरोधकरीं द्वयुणकादरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः।। नै. 4/3

आचार्य मल्लिनाथ भी ऐसा कहते है- जो कि जिसके बाद होता है उसी से उत्पन्न माना जाता है। हंस के जाने के बाद दमयन्ती राजा नल के लिए अधीर हो गयी। अतः स्पष्ट है कि अधीरता होने का कारण हंस है।

न्याय शास्त्र में घट का उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका प्रयोग अनेक प्रकार किया गया है। जैसे- अन्वय, व्यतिरेक व्याप्तियों में उदाहरण- यत्कृतंक तदनित्यं यथा "घटः और यन्नित्यं न तदकृताकमापि न यथा घटः। एवम् सन्निकर्षादि का उदहारण घटाभाववद् भूतलम्" तथा अनुलब्धि प्रमाण के खण्डन का उदाहरण मद्यत्रं घटोऽभविष्यत तथा भूतल मिवाद्रक्ष्यत् इत्यादि।

महाकवि श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन नैषध में घट के माध्यम से भी किया है-

"दमयन्ती का स्तनद्वव प्रतिस्पर्धा के कारण घट न्याय शास्त्र में उदाहरण बन गया। जो बनावटी होते है वे सभी नष्ट होने योग्य है जैसे- घड़ा। इस तरह घट का ही उदाहरण दिया गया। इसे बनाने वाला व्यक्ति कुचाद्वयास्पर्धी होने के कारण अर्थात् घड़े को बनाने से ही कुम्हार नाम से प्रसिद्ध हो गया।[1]"

आशय यह है कि यदि किसी यशस्वी के साथ कोई साधारण भी प्रतिस्पर्धा करता है तो वह प्रसिद्ध हो जाता है। साधारणतः कुम्भकार

---

1. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
   तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्ध नामा जनि कुम्भकारः।। नै. 7/75

मिट्टी के बर्तन ही बनाता है किन्तु दमयन्ती के स्तनद्वय की प्रतिस्पर्धा करने वाला घट बनाने के कारण वह भी कुम्भकार के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

नैय्यायिकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान को भी अत्यन्त महत्व प्रदान किया है। जिस किसी का विषय ज्ञान आंखो के माध्यम हो, उसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है।

महाकवि श्री हर्ष ने न्याशास्त्र के इस सिद्धान्त को कुछ इस तरह व्यक्त किया है।-

"जब तक राजा नल की दृष्टि दमयन्ती की इच्छा करके उसके नेत्र को देख भी न सकी, तब तक कामदेव का प्रेमवाण उस सुन्दरी दमयन्ती के प्रत्येक अंग को प्रेम में डूब चुका था।[1]"

आशय यह कि अपने नेत्रों के माध्यम जिस भी किसी वस्तु का ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। राजा नल के नेत्र ज्योति जब तक सुन्दरी दमयन्ती के अत्यन्त निकट नेत्रों तक पहुंचते ठीक उसी समय कामदेव उसके शरीर में प्रवेश कर गये अर्थात् जब नल का दमयन्ती के साथ ठीक तरह से साक्षात्कार भी न हो पाया था उसी समय दमयन्ती का काम वासना उसे देख कर बढ़ गयी।

महाकवि श्री हर्ष ने सरस्वती की दमयन्ती को न्यायशास्त्र के सोलह पदार्थ प्रमाण प्रमेय के रूप में व्यक्त किया है-

---

1. अपांगम्प्याप दृशोर्नरश्मिर्नलान्य भैमीमभिलख्य यावत्।
   स्मराः शुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यगंमपुखाशिखं ममज्जा।। नै. 8/3

"नाम निर्देश एवं लक्षण निर्देश के द्वारा दो बार कहे गये सोलह पदार्थो से उपलक्षित जिस सरस्वती देवी के दातों की दोनों पक्तियां मुमुक्ष लोगों के लिए तर्क है।[1]"

आशय यह है कि जिसके दातों रूप पदार्थो की सोलह करके दो प्रकार से उदित हुई है। मां सरस्वती की दोनों दन्त पक्तियां वही बत्तीस पदार्थ है जिसे मोक्ष चाहने वाले ग्रहण करते है। यहां न्याय का सोलह पदार्थ जो मोक्ष के लिए बार-बार दोहराया जाता है, मां सरस्वती की दन्त पंक्ति के समान ही है।

महाकवि श्रीहर्ष ने मोक्ष के सम्बन्ध में भी अपना विचार व्यक्त किया किन्तु गौतम के मोक्ष नियम को चार्वाक द्वारा उपहास भी करवाया।

"गौतम ऋषि ने चेतना से युक्त प्राणियों के (सुख-दुख का अनुभव न होना) पाषाण के जैसा होने पर मुक्ति के लिए न्याय का प्रतिपादन किया, उसे गोतम(पशु विशेष गाय) होने पर जैसा जानते है वैसा ही है।[2]"

न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि का सिद्धान्त है कि मुक्ति होने पर तत्व ज्ञान होने से प्राणी को सुख-दुख किसी का कुछ अनुभव नही होता है।यह तदत्यन्तविमोक्षऽपवर्गः वाक्य का अभिप्राय है। चार्वाक महाकवि

---

1. उद्देश्यपर्वव्यापि लक्षणोऽपि द्विधोतितै षोडशाभिः पदार्थः।
   आन्वीक्षकी यद्दर्शनद्विभाली तां मुक्ति कामा कलितां प्रतीम।। नै. 10/82
2. मुक्तये मः शिलातवाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
   गोतमतमवेक्ष्यैव यथावित्थ तथैव सः।। नै0 17/74

भी हर्ष के द्वारा उपहास करते हुए कहता है कि यदि मनुष्य सुख दुख आदि का एहसास नही कर सकता तो वह पत्थर के समान है और इस स्थापित करने वाले गौतम मुनि वास्वत में गौतम (पशु विशेष गाय) है।

आचार्य मल्लिनाथ इसे अपनी टीका में कुछ इस प्रकार कहा है- यः शास्त्र कर्ता सचेतसो प्राणिनां शिलात्वाय सुखदः खादि संवेदना भवात् पाषाणवस्था स्वरूपार्यो मुक्तये मोक्षाय शास्त्रं न्याय शास्त्रं ऊचे प्राणिनाये तत्वज्ञानेन मिथ्या ज्ञान दोषडीनां क्रमशोविनाशत् निवृत्ति रूपा मुक्ति गौतमेनः व्यवस्थापिता:।

महाकवि श्रीहर्ष ने चार्वाक दर्शन के माध्यम से ही न्याय दर्शन के ईश्वर स्वरूप का खण्डन किया तथा उसकी सत्ता को भी अस्वीकार कर दिया।वह कहते है- ''यदि वह सर्वग्य दयालु एवं वेद का ज्ञाता ईश्वर है तो वह मोक्ष की कामना करने वाले प्राणियों को अपने वचन से कृतार्थ क्यों नही कर सकता है।[1]''

आशय यह है कि यदि ईश्वर वर्तमान भूत एवं भविष्य के समस्त कालों को जानने वाला दयालु और सर्वदा सफल वाणी वाला है तो हम भुक्ति मुक्ति की इच्छा वालों को अपने मधु वचनों से सन्तुष्ट क्यों नही करता है। चार्वाक दर्शन ईश्वर अस्तित्व को नकारते हुए कहता है कि यदि वह न्याय सम्मत परमात्मा ईश्वर है तो हम लोगों को मुक्त कर देता

---

1. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञ करूणा भाग वन्ध्यावाक्।
   तल्किं वाग्यममात्रान्नः कृतार्थ यतिनार्थनः।। नै0 3/17

किन्तु वह ऐसा करने के लिए वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए ईश्वर नामक न तो कोई देव है न ही सर्वज्ञ है।

महाकवि श्रीहर्ष नैय्यायिकों के सत्प्रतिशत सिद्धान्त की विवचना इस प्रकार करते है-

''तर्क अनन्त होने से समानता के कारण तथा परस्पर विरोधी प्रमाण होने से भी परस्पर फल निश्चय न करते हुए किन मतोंका अप्रमाण्य नहीं होगा।[1]''

आशय यह है कि जिस प्रकार न्याय दर्शन में घट को कार्य मानकर अनित्य कहते है तथा मीमांसक आत्मा के उदाहरण देते हुए उसे नित्य मानते है। इन दोनों के तर्को के तुल्यय बल होने के कारण किसको प्रमाण माने या किसका न मानें, भ्रम है।

उसी प्रकार प्रमाण्य निश्चायक तर्को की अनेकता होने से और सब में समानता होने से सभी अप्रमाणिक हो जायेंगे।

नैय्यायिकों ने अनुभव के दो भेद - 1. यथार्थ 2. अयथार्थ, में विभाजित किया। वस्तु का वास्तविक ज्ञान यथार्थ अनुभव या प्रभा कहा जाता है। जैसे-'रजत' में यह रजत है का ज्ञान। किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप से अलग समझ लेना अयथार्थ अनुभव या अप्रभा या विभ्रम कहा जाता है जैसे शुक्ति में यह रजत है का ज्ञान।

---

1. तर्का प्रतिष्ठयासाम्यादन्यो न्यस्य व्यतिघ्नताम्।
   न प्रामाण्यं मतानां स्यात् केषां सत्प्रति पक्षवत्।। नै० 17/78

महाकवि श्री हर्ष ने इस सिद्धान्त को इस तरह से व्याख्यायित किया है।–

"जिस तरह अप्रमा ज्ञान द्वारा प्रमा को बाधित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अति विनम्रशील सुन्दरी दमयन्ती को दुराग्रह वाले तुम लोग बाधित नही कर सकते।[1]"

आशय यह है कि जिस तरह (शुक्ति में रजत ज्ञान को दूर करने वाले) प्रमा ज्ञान को (रजत में शुक्ति का ज्ञान रूप) विभिन्न भ्रम वाले ज्ञान बाधित कर सकता है अति विनम्र तथा पवित्रता दमयन्ती को दुराचारी तुम लोग पीड़ित नही कर सकते हो।

इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष नैषध महाकाव्य में न्याय दर्शन के प्रचलित शब्दों तथा सिद्धान्तों का प्रयोग करते दिखाई देते है जो उनके न्यायशास्त्र का वेत्ता होने की पुष्टि करता है।

## वैशेषिक दर्शन :

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद है।इनका वास्तविक नाम उलूक है अतः इनके द्वारा रचित ग्रन्थ औलूक्य दर्शन कहा गया। इस दर्शन में एक 'विशेष' नामक पदार्थ का विशद वर्णनकिय गया यह कारण है कि इसे 'वैशेषिक' भी कहा गया। जिस प्रकार न्याय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य अर्न्तजगत के ज्ञान तत्व की जानकारी एवं ध्यान आदि उपायों से आत्म साक्षात्कार और मन शान्ति की साम्यावस्था के उपायों का प्रतिपादन

---

1. सा विनीततमा भैमी न्यार्था नर्थग्रहैरहो।
   कथं भवदिबधैर्वाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिवा।। नै0 17/144

करना है, उसी प्रकार वैशेषिक का उद्देश्य आत्मा एवं आत्मेत्तर पदार्थो का परस्पर सार्धम्य वैधर्म्य की सूक्ष्मताओं का ज्ञान प्राप्त करना एवं तत्व ज्ञान की जानकारी प्राप्त करना है।

वैशेषिक दर्शन बाह्य जगत की समीक्षा एवं परीक्षा करता है, वह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थो से आधार ग्रहण करता है। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए इन सप्त पदार्थो का सम्यक ज्ञान आवश्यक है। द्रव्य उसे कहते है जिनके गुण एवं कर्म का संयोग होता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की वैदिक ज्ञान के लिए विशेष की आवश्यकता है। सामान्य एवं विशेष का अन्य पदार्थो से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समवाय एवं नित्य की आवश्यकता हैं। 'अथवा' नामक सातवां पदार्थ अनुष्ठान आदि निष्काम कर्मो के द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव है।

महर्षि कणाद ने इस शास्त्र का प्रतिपादन उन लोगों के लिए किया जिन्हें आत्मा एवं अनात्मा का ज्ञान नही है और क्षणिक एवं नाशवान पदार्थो को ही साश्वत मान लिया। कणाद ने जड़ लोगों के लिए धर्म की सरल मीमांसा करके असंख्य सांसारिक पदार्थो का स्वरूप विवेचना प्रत्येक पदार्थ का लक्षण देकर विस्तार से समझाया है।

महर्षि काणद कहते है कि पदार्थो के तत्व ज्ञान की विज्ञप्ति के लिए अतःकरण की शुद्धि आवश्यक हैं अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आवश्क है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए धर्म प्रबल होना आवश्यक है। क्योंकि धर्म प्रबल हुए बिना अन्तःकरण शुद्ध नही हो सकता और अशुद्ध

अनत:करण में विद्या का प्रकाश कभी नही हो सकता है। कणाद का वैशेषिक दर्शन धर्म प्रबल है अत: इसकी शुरूवात धर्म की व्याख्या से होती है। कणाद के वैशेषिक दर्शन का आधार में निम्नलिखित चार सूत्र है-

1. अथातो धर्म व्याख्यास्याम:।
2. यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि: सधर्म:।
3. तद्व चनादाम्नास्य प्राणायाम्।
4. धर्म विशेषप्रसूताद द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेषा समवायीनां परार्थनां साधर्म्म वैर्धम्याभ्यां तत्वाज्ञानानि श्रेयसम्।

महर्षि कणाद परमात्मात्मा एवं जीवात्मा दोनों का अस्तित्व स्वीकार करते है और इन्हें नित्य मानते है।

महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में वैशेषिक शास्त्र के इन सिद्धान्तों का समायोजन किया है।-

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अणु परिमाण विशिष्टपरमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है जो अणु परमाणु विशिष्ट होने से स्वयं अतीन्द्रीय होते है ऐसे तीन द्वयणुकों के संयोग से श्रयणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है। वास्तविक स्थिति यह है कि परमाणु नित्य है। दो परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। द्वयणुक भी अणुपरिणाम वाला है। किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्वयणुकों से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है, वह महत्परिमाण वाला होता है। अत: उसका

चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है फलतः परमाणु एवं द्वयणुक अतीन्द्रिय है और त्रसरेणु से लेकर आगे के सभी कार्य द्रव्य इन्द्रीय गोचर होते है।

"सूर्य की किरणों का जब प्रवेश होता है तो उसमें अनेक छोटे-छोटे कण दिखते हैं, इन्हीं का छठवां हिस्सा परमाणु कहलता है। त्रयणुक का महत्व द्वयणुकों की योग संख्या के कारण उत्पन्न मानते है न कि उसके अणु परमाणु से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदन्तर जगत की सृष्टि होती है।[1]"

वैशेषिक दर्शन के इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में महाकवि श्री हर्ष व्यक्त करते है कि-

"परस्पर समागम से बढ़े हुए उस विलास वाले नल और दमयन्ती के मन कामदेव की रचना करने के लिए लग जायें और प्रारम्भ में द्वयगुण बनाने वाले (तुम दोनों के मन) का परमाणुओं की तरह शोभित हों।[2]"

आशय यह है कि द्वयगुण दो परमाणुओं के संयोग से बनता है। प्रारम्भ में शरीर रचना के पूर्व दो मन आपस में मिलते है वह द्वयगुण का रूप धारण करते है फिर वे दोनों एक तीसरे और फिर चौथे इस क्रम से प्राणियों की रचना करते है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। वह स्पष्ट करते है कि राजा नल एवं दमयन्ती का असीम प्रेम ही

---

1. जालान्तरगते भालौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
   तस्य षष्ठतमें भागः परमाणु स उच्यते।। प्रा.प.पी. 19/22
2. अन्योन्संगभवशोदधुना विभातां तश्यापि तेऽपि मनसी विकासद्विलासो।
   स्त्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तममादादिव ह्यगुणकृत परमाणु युग्मम्।। नै. 3/125

परमाणु द्वयगुण धारण कर लेगा और इस प्रकार शरीर विहीन कामदेव पुनः शरीर को प्राप्त कर लेगा।

"वैशेषिक में तमस को अभाव मात्र कहा गया क्योंकि द्रव्य गुण आदि से इसकी उत्पत्ति नही होती।[1]"

महाकवि श्रीहर्ष ने वैशेषिक के इस सिद्धान्त पर भी अपने विचार व्यक्त किये-

"हे वामोरू! अंधकार के स्वरूप के निरूपण के विषय में वैशेषिक मत उपयुक्त ऐसा मेरा मानना है क्योंकि लोग उस वैशेषिक मत को औलूक दर्शन कहते है। इसलिए तम के वास्तविक स्परूप का निरूपण करने के लिए (औलूक) ही समर्थ है। इसी कारण उल्लू के समान कण खाने वाले कणाद नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ को लिखने वाला शास्त्र भी औलूक कहा गया क्योंकि उल्लू ही अंधकार में पदार्थ को ठीक रूप में देख सकता है अतः इसे औलूक दर्शन भी कहा गया।[2]"

इसी तरह का विचार अनेक विद्वानों ने भी व्यक्त किया वैशेषिक दर्शन में तेजी के अभाव को ही तम कहा गया है इसलिए "भासाभभाव एवं तमः" इस सूत्र के अविरोध के लिए 'व्योमशिवाचार्यादि' ने छः पदार्थो के वैधर्म्य से अभाव रूप तक को युक्ति संगत माना। श्रीधराचार्य ने आरोपित भूरूप ही अंधकार है ऐसा निश्चय कर तेजो के अभाव में

---

1. द्रव्य गुण कर्म निष्पत्ति वैधर्म्याद भावस्तम। वै.सू. 5/2/11
   तेजोसो द्रव्यन्नरेणावरणाच्चा।। वै.सू. 5/2/20
2. ध्वान्तस्य वामोरू विचाराणायं वैशेषिकं चारूमतं में।
   ओलूकमाहूः खलु दर्शन तत् क्षमं तमस्तत्व निरूपणाय।। नै. 22/35

वास्तविक रूप से अंधकार का ज्ञान होने तेजो भाव ही तम है, ऐसा कहकर सूत्र के विरोध का परिहार किया किन्तु उदयनाचार्य ने तेजो के अभाव को ही अंधकार मानकर श्रीधराचार्य के मत का खण्डन कर दिया।

वैशेषिक दर्शन गुण एक ऐसा पदार्थ जो सभी द्रव्यों में रहता है किन्तु स्वयं उसमें कोई गुण नही होता द्रव्यत्व द्रव्य का गुण हो सकता है, गुण का गुण नहीं क्योकि वह अगुणवान होता है द्रव्य स्वतः विद्यमान रहता है और वस्तुओं का समवायि कारण होता है गुण अपनी सत्ता के लिए किसी द्रव्य पर आश्रित रहता है तथा किसी अन्य पदार्थ का असमवायि कारण हो सकता है। गुण कर्म से भिन्न होता है। वैषेषिक दर्शन में 'द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष समवाय, अभावाः सप्तपदार्था कहकर द्रव्य को गुण से अलग तत्व माना है।

महाकवि श्रीहर्ष अपने महाकाव्य में राजा नल के द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रशांसा करवाते हुए वैशेषिक के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया- ''राजा नल दमयन्ती से कहते है कि वैशेषिक के द्वारा गुण पदार्थ से निर्दिष्ट जो पीला वर्ण है वह बहुत रमणीय है क्योंकि वह तुम्हारे शरीर में है वैशेषिकों के द्वारा गुण पदार्थ के निर्देश करने में सर्वप्रथम मुख्यतया निर्दिष्ट एवं वर्णान्तिर से अभिञ्चित होने के कारण अप्रधान भी जो पीला वर्ण है तथा जो रमणीय है वह तुम्हारे में बहुत विशिष्ट के

द्वारा ग्रहीत साधारण भी उत्तम हो जाते है अतः नारी रत्न तुमसे ग्रहीत होने के कारण ही अप्रधान भी पीत वर्ण का प्रधान होना उचित है।[1]''

आशय यह है कि गुण जो कि पीला है वह अत्यन्त रमणीय है क्योंकि वह दमयन्ती के शरीर में शोभित है। दूसरे वर्ण तो दोष एवं असुन्दर सर्वोत्तम एवं रमणीयतम है क्योंकि उनका संसर्ग करने वाला चम्पा भी वैसा हो जाता है।

महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के सर्गो में वैशेषिक दर्शन एवं उसके सिद्धान्तों का विश्लेशण किया है-

महाकवि श्री हर्ष वेद कर्मकाण्ड एवं दान को चित्रित करते हुए राजा नल के दान के मार्मिक प्रसंगों का भी उल्लेख करते है। श्रीहर्ष इन सब बातों के द्वारा अपनी सहृदयता का परिचय देते है एवं राजा नल के चरित्र को आदर्श बना देते है।

महाकवि श्रीहर्ष दान के महत्व को बताते हुए स्पष्ट करते है-''राजा नल के राज्य में कोई दरिद्र नही है क्योंकि राजा नल याचकों की उनकी इच्छा से अधिक दान देते है।[2]''

महाकवि श्री हर्ष राजा नल की दान वीरता का वर्णन करते हुए कहते है।- ''राजा नल अपने मन में विचार करते है कि मैने स्वर्णिम

---

1. पीतो वर्ण गुणस्तवातिमधुरः कामोऽपि सोऽयं यथा,
   यं विभ्रत कनकं सुवर्णमिति कैरादृत्य नोत्कीर्त्यते।
   का वर्णा-तरवर्णाना धवलिमा राजैव रूपेषु य,
   स्तद्योगदपि याबदेति रजतं दुर्वर्णतादुर्यशः।। नै. 21/137
2. आयं दरिद्रो भवितेति वैधसी लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
   मृषा न चक्रेऽल्पितकाल्पपादपः प्रवीण दारिद्रियदरिद्रता नृपाः।। नै. 1/15

पर्वत सुमेरू का दो टुकड़े करके याचकों को सहर्ष दान कर दिया। इस प्रकार राजा नल के दानवीर होने की जानकारी मिलती है।[1]''

महाकवि श्रीहर्ष यज्ञ के विषय बताते है तथा ऋचा की महत्ता को प्रकट करते है।-

''राजा नल हंस को संबोधित करते हुए कहते है कि हे हंस दमयन्ती की अनुपम मधुवाणी मेरे कामाग्नि को उसी तरह बढ़ा रही है जैसे ऋचा से यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त होती है।[2]''

महाकवि श्रीहर्ष यज्ञ के विषय में विचार व्यक्त करते हैं तथा ऋचा का महत्व स्पष्ट करते है।-

''पुत्रेष्टि यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति शयेन यज्ञं से शत्रु नाश और कारीरी यज्ञ से वृष्टि रूपी फल प्रत्यक्ष रूप में दिखता है।[3]''

महाकवि श्रीहर्ष वेदपाठ तथा कर्मकाण्ड के विषय में अपना विचार व्यक्त करते है।

---

1. विभज्म मेरूर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धु रूत्सर्ग जल व्यमैर्मरू।
   अमानि तत्तेन निजयशोयुंग द्विफालवद्धक्ष्चिकुरा: शिरास्थितम्।। नै. 1/16
2. अमितं मधु तत्कथा मम भवण प्राधुणकीकृता जनै।
   मदनानलबो धनेऽभवत् खग! धाय्या धिगणैर्यधारिण:।। नै. 2/56
3. पुत्रष्टिश्येन कारीरी-मुखा दृष्टफला मखा:।
   न व: किं धर्मसन्देह: मन्देह जयमानव:।। नै. 17/93

"राजा नल की राजधानी में वेदाध्यापकों के मुख से क्रम संज्ञक मन्त्रभाग को सुनते ही कलि के पैर संकुचित हो गये अर्थात वह एक पैर भी आगे न बढ़ सका।[1]"

कलि ने ब्राह्मण के द्वारा ऋक् संहिता वेद पाठ को सुना और उसकी गति और भी मन्द हो गयी।

इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्त परमाणु गुण अभाव आदि की चर्चा अपने महाकाव्य में भी किया है साथ ही वेद कर्मकाण्ड दान आदि को भी उल्लेखित किया है।

## मीमांसा दर्शन:

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कर्मकाण्डों की पुष्टि करना है- 1. वैदिक विधि निषेधों का अर्थ समझने के लिए और आपस में उनकी संगति बैठाने के लिए व्याख्या प्रणाली निर्धारित करना 2. कर्मकाण्डों के मूल सिद्धान्त का युक्ति द्वारा प्रतिस्थापन मीमांसा दर्शन का आस्तिक दर्शनों में सर्वोपरि स्थान है क्योंकि इसके वैदिक वाक्यों को पूर्णतः प्रमाण माना गया है। वेद के कर्मकाण्ड एवं ज्ञान काण्ड के दो भेद है। कर्मकाण्ड पूर्वमीमांसा का विषय है और ज्ञानकाण्ड को वेदान्त या उत्तर मीमांसा में संगठित किया गया है। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि नहीं की गयी तथापि वैदिक मंत्रों की व्याख्या की गई है। योग का विधनान सहित वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में है परन्तु जिस तरह वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार

---

1. श्रृतिपाठक वक्त्रेभ्यस्तत्राकर्णयतः क्रमम्।
   क्रमः संगचितस्तस्य पुरे दूरमर्वत्तत।। नै. 17/161

हुआ उसी तरह याग विधान भी समृद्धि हुआ। इसी के साथ कर्मकाण्ड में अनेक समस्यायें भी सम्मिलित हो गयी। उदाहरण–क्या सभी वैदकि वाक्यों का संबंध याग से है? किस क्रिया का अनुष्ठान कौन करेगा? कौन सी क्रिया मुख्य है और कौन सी क्रिया अंगीभूत? अपूण्र विधान वाले यागो के विधान की पूर्ति का उपाय क्या है? इसी तरह के अन्य प्रश्नों का जबाबा उत्तर मीमांसा से दिया जा सकता है।

महाकवि श्री हर्ष ने मीमांसा के विभिन्न सिद्धान्तों को अनेक सर्गो में उद्धुत है। सरस्वती के सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग में उन्होंने कर्मकाण्ड पूर्व मीमांसा एवं ब्रह्मकाण्ड उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का परिचय कुछ इस तरह से दिया–

''जिस सरस्वती देवी के उरूद्वम ब्रह्मप्रयोजन उर्थात ब्रह्मकाण्ड और कर्म प्रयोजन अर्थात कर्म काण्ड, वेद के दो भागों के कारण आर्थात पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा को बाटने वाले तथा वैशेषिक बौद्ध आदि मतों के खण्डन करने वाले सुन्दर तथा परिपुष्ट मीमांसा शास्त्र सरस्वती देवी के सुन्दर वस्त्रों से परिपूर्ण जंघा युग्म बने।[1]''

आशय यह है कि मां सरस्वती देवी की उरूद्वय के रूप में पूर्व मीमांसा तथा उत्त मीमांसा या वेदान्त का प्रतिपादन किया है।

---

1. ब्रह्मार्थकर्मार्थक–वेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
   चक्रे पराच्छादनचारू यस्या मीमांसय मासलमुरूयुग्मम्।। नै. 10/81

"मीमांसको ने ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना है। इसके साथ ही बुद्धि को भी प्रमाण माना है।[1]"

"एक ज्ञान को अन्य ज्ञान से प्रमाणित किये बिना ही स्वतः ज्ञान को प्रमाण रूप माना है।[2]"

ज्ञान की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए महाकवि श्री हर्ष ने इस तरह कहा-

"आपको प्रवृत्त करने का मेरा यह कार्य पिष्टप्रेषण नही तो क्या? क्योंकि स्वतः इस कार्य के लिए उद्यत आपको लगाना यह मेरा पिष्ट प्रेषण मात्र है। सज्जन लोगों की परोपकारिता स्वतः सिद्ध है, जिस प्रकार ज्ञानों का स्वतः प्रमाण्य होता है।[3]"

आशय यह है कि जैसे अनुगतार्थता होती है, जैसे कि पेड़ कटने से उसके मूल शाखा पत्र पुष्प आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार सज्जनों के केवल नाम लेने से ही उसकी परोपकारिता सिद्ध होती है।

आचार्य श्री मल्लिनाथ ने अपनी टीका में महाकवि श्री हर्ष को विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया-

"हि यस्माद ग्रहणानां ज्ञानानां यर्थायता याथर्थ्य यथा प्रमाण्यमिव रचतः।

---

1. स्वतः सर्व प्रमाणनां प्रमाणयमिति गम्यताम्।
   न हि स्वातोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येशक्यते।। श्लो. वा. 2/47
2. तस्माद्दृढ़ युदत्पन्नं नाणिसंवाद मृच्छाति।
   ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्।। श्लो. वा. 2/80
3. अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिनाः।
   स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता।। नै. 2/61

सर्वप्रमाणानां प्रमाण्यमिव गृहतां जाता मनीषा स्वत एवं मानमिति मीमांसका:।"

महाकवि श्रीहर्ष मीमांसा के देववाद के विषय में कहते है- "विष्णु के इस वचनानुसार विश्वरूप स्वीकार करने के कारण जैमिनी मुनि का रूप धारण करने के कारण असुरों एवं देवों के युद्ध को सहन न करते हुए विष्णु ने अपने चक्र से असुरों का संहार किया और वज्र को बेकार कर दिया।[1]"

आशय यह है कि वे भगवान विष्णु का स्वरूप धारण कर एवं जैमिनी मुनि का रूप धारण कर राक्षसों का विनाश किया। इसमें वज्र की कोई अवाश्यकता नहीं पड़ी।

दूसरे पक्ष में देवताओं के शरीर को सहन न करते हुए का जैमिनी मुनि का अभिप्राय है कि देवताओं का कोई रूप नहीं है। जब शरीर ही नही तो वज्र की आवश्यकता का प्रश्न ही नही उठता है।

महाकवि श्रीहर्ष देववाद को स्थापित करते हुए कहते है कि इन्द्र नल को वरदान देते हुए कहते है- "तुम्हारे यज्ञ में प्रत्यक्ष शरीर को धारण करके अग्नि में हवन किये आहुतियों को अवश्य स्वीकार कर लेगें क्योंकि हम लोगों के द्वारा यज्ञ का भोग हुआ न देखकर मन्त्रों से अलग देवताओं की सत्ता में संदेह करते है।[2]"

---

1. विश्वरूपकलानामुपपन्ना तस्य जैमिनी मुनित्वमुदीयो।
   विग्रहं यखभुजामसहिष्णु र्व्यर्थतां मदशर्नि स निनाय।। नै. 5/39
2. प्रत्यक्षलक्ष्यावलम्व्य मूर्ति हुतानि यज्ञेषु तवोपभोज्यो।
   संशेरतेऽस्माभिरवीरक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिक देव भावे।। नै. 14/70

आशय यह है कि मीमांसक दवत्व रूप को न मान कर मन्त्रों को अधिक महत्व देते है। यही कारण है जब देव सशरीर होकर लोगों की यज्ञ आहुतियों को स्वीकार करते है तो उनकी सत्ता के प्रति सन्देह दूर हो जाता है।

महाकवि श्रीहर्ष अलोक रूप का वर्णन नल-दमयन्ती के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार किया है।-

''नल-दमयन्ती प्रेम में इतने अधिक संलिप्त है कि दोनों को प्रत्येक सर्वत्र दिख रहे हैं अर्थात् नल और दमयन्ती विभ्रम के कारण एक-दूसरे को प्रत्येक जगह स्पष्ट देख रहे है। जब दोनों एक स्थान पर समीपस्थ है तब भी उन्हें ऐसा एहसास नही हो रहा है और भ्रम की स्थित होने के कारण एक दूसरे का भ्रम (अलीक) रूप को ही सच मान रहे है।[1]''

महाकवि श्रीहर्ष मानव बुद्धि ईश्वर के अनुसार एवं कर्मो के अनुसार होती है स्पष्ट करते हैं-

''दमयन्ती अपनी बुद्धिमती सखियों से कहती है कि हे सखियों संसार के समस्त प्राणियों की अनादि काल से चली आ रही बुद्धि शुभाशुभ रूप कर्मो के हेतुभूत परम्परा के प्रवाह में या ईश्वर के अधीनस्थ है। अर्थात इस संचार में सभी प्राणियों की बुद्धि ईश्वर की

---

1. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षामाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपिदेशो।
   आलिंगतालीक परस्परान्तस्टथ्यं मिथस्तौ परिषस्व जाते।। नै. 6/51

इच्छा के अनुसार होती है। मानव अपने स्वतन्त्र बुद्धि से कुछ नही कर सकता है।[1]''

मीमांसक मानव बुद्धि को कर्म के अनुसार ही मानत है किन्तु नैय्यायिक एवं वेदान्ती ईश्वर को ही प्रधान रूप में मानते हैं। इसी से सम्बद्ध महाभारत में एक श्लोक भी है।[2]

नैषध में महाकवि श्रीहर्ष ने ईश्वर को अशरीर तथा सृष्टि का कर्ता माना है-

''कामदेव बुद्ध क्षेत्र से जीता गया और शिवी के नेत्रों की अग्नि से भस्म होने के कारण वह अशरीर हो गया। नैय्यायिक शरीर हीन शिवाजी को सृष्टि का निर्माणकर्ता मानते हैं, उसी तरह कामदेव भी शिवाजी की स्पर्धा करता हुआ शरीरी तथा कामी लागों के कर्त्तत्व को धारण कर रहा है।[3]''

महाकवि श्रीहर्ष न्याय एवं मीमांसा के ईश्वर के सम्बन्ध में हुए मतभेद को स्पष्ट करते हुए कहते है-

''सभी वेदों में प्रसिद्धि पाने वाले परोपकार करने वाले परम दयालु जिस भगवान शंकर को मीमांसक स्वीकार नही करते, ऐसे ही वेद वचनो से कीर्ति गाने वाले निःस्वार्थ परोपकारी राजा ज्योतिष्मान में दमयन्ती की

---

1. अनादिधाविस्वपरम्पराया हेतुस्त्रः स्त्रोतसि वेश्वरे वा।
   आयत्तधीरेष जनस्तदार्या किमीद्वशः पर्यनुयुज्य कार्यः।। नै. 6/102
2. आज्ञो जन्तु रजीशोऽयमात्मनः सुख दुःखश्यो।
   ईश्वर प्रेरितोगच्छेत् स्वर्ग वाश्वभ्रमेव वा।। (महा.)
3. विभर्ति लोकजिभ्दावं बुद्धस्य स्पर्द्धयेव यः।
   यस्येशुतल येवात्र कर्त्तत्वमशरीरिणः।। नै. 17/16

कोई आस्था नही है। अर्थात दमयन्ती को नल के अतरिक्त अन्य ज्योतिष्मान राजा स्वीकार नही है।[1]''

महाकवि श्रीहर्ष मीमांसा के सिद्धान्तों के साथ ही कर्मकाण्ड विषयी बातों का भी उल्लेख अपने महाकाव्य में करते है। महाकवि श्रीहर्ष ने देवताओं का आह्वान करने वाले मंत्रों विशेष तथा यज्ञाङ्ग साधन भूत मंत्र विशेष के द्वारा तत्वदेवताओं के आह्वान के मंत्रों का उच्चारण की मीमांसा पर जोर दिया है।

महाकवि श्रीहर्ष ने मीमांसा के अन्तर्गत यज्ञ का भी उल्लेख किया- '' पुत्राष्टि यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति, शयेन यज्ञ से शत्रु नाश एवं करीरी यज्ञ से वर्षा रूपी फल प्राप्त होता है।[2]''

महाकवि श्री हर्ष ने मीमांसा की विशेषता का उल्लेख करते हुए कहते है- ''राजा नल ने नित्ययज्ञ अग्निहोत्र में उस त्रेता गार्हषत्य आह्वनीय तथा दक्षिणाग्नि में सभी देवों को हवन से तुष्ट किया।[3]''

इस प्रकार कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष ने नैषध में मीमांसा विषयक अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख किया। उन्होंने ने मीमांसा के दो भाग- कर्मकाण्ड एवं ज्ञान काण्ड को सरस्वती के अंगो के रूप में

---

1. वेदैर्व चोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने हेतु विनैव धृतनित्यपरार्थ यत्नेः।
   मीमासयेव भगवत्यमृतांशुमौली तस्मिन महीभुजि तयाऽनुमतिर्न भेजो।। नै. 11/64
2. पुत्रेष्टिश्येन कारीरी मुखा दृष्टफला मखाः।
   न वः किं धर्मसन्देहः मन्देह जय मानवः।। नै. 17/93
3. ममासावपि सा सम्भूत कलिद्वायरवत् परः।
   इतीव नित्यसत्रे तां से त्रेतां पर्यतूतषत्।। नै. 20/10

विस्तारित किया। उनके महाकाव्य को पढ़ने से मीमांसा दर्शन का विषय ज्ञान परिलक्षित होता है।

**वेदान्त दर्शन:**

वेदान्त का भावार्थ है- वेदों का 'अन्त'। इस शब्द से उपनिषद का बोध होता है। उपनिषद को भिन्न-भिन्न अर्थो में वेद का अन्त अर्थात वेदान्त कहा जाता है-

1. उपनिषद वैदिक युग के अन्तिम साहित्य है। वैदिक काल में तीन प्रकार के साहित्य (क) पहला वैदिक तन्त्रमन्त्र साहित्य यथा वेद (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) (ख) ब्राह्मण भाग जिसमें कर्मकाण्ड की विवेचना है (ग) अन्त में उपनिषद जिसमें दार्शनिक तथ्यों की समालोचना है।
2. अध्ययन के विचार से भी उपनिषदों की बारी अन्त में आती है। अध्ययन की शुरूआत संहिता से किया जाता है। गृहस्थों की गृहस्थोचित कार्य के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ की आवश्यकता होती है। वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में आरण्यक की आवश्यकता होती है। यही उपनिषदों का विकास हुआ।
3. उपनिषद को इसी अर्थ में भी वेदान्त कहा जा सकता है क्योंकि जो विचार वेदों में पाये जाते है, उन्हीं का परिपक्व और संतुलित रूप उपनिषदों में मिलता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। अविद्या की निवृत्ति के सम्बन्ध में मंडन मिश्र एवं शंकराचार्य कहते है कि अविद्या

निवृत्ति ब्रह्म रूप है। ब्रह्मभावश्च मोक्षः अर्थात मोक्ष ब्रह्मभाव है। सकल प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है। ''अविद्या निवृत्ति मोक्ष है और अविद्या संसार है।[1]''

महाकवि श्रीहर्ष नैषध में वेदान्त के मोक्ष विषय अवधारणा का चार्वाक द्वारा परिहास करते हुए कहते हैं-

''संसार दशा में जीवात्मस्वरूप प्रपंच तथा ब्रह्मा दोनों है। मुक्ति होने पर केवल ब्रह्मा ही है। यह वेदान्तियों का स्व का अभाव रूप मुक्ति के कथन में बड़ा अच्छा चातुर्य है।[2]''

महाकवि श्री हर्ष अद्वैत वेदान्तों के तत्वों का निरूपण कई स्थानों पर किया साथ ही आत्मा ब्रह्म ज्ञान जगत माया आदि का कई स्थानों पर वर्णन भी किया है। महाकवि श्रीहर्ष द्वारा वेदान्त विषयक तत्वों का निरूपण हम इस प्रकार कर सकते है।-

वेदान्त के अनुसार जागृत अवस्था में आत्मा जिस प्रकार सुख-दुख का भोग करता है, ठीक उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी सुख-दुख का अनुभव करता है।

नैषध में महाकवि श्रीहर्ष ने स्वप्नविषयक बातों का उल्लेख करते हुए कहते हैं-

---

1. अविद्यास्तमयों मोक्षः सा संसार उदाहत्ता।
   विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्चयते।।
2. स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।
   इति स्वोच्छित्तिमुक्तियुक्ति वैदग्धी वेदवादिनाम्।।

"निद्रा के कारण बन्द आंखो वाली एवं वाह्य इन्दियों का अपना विषय न ग्रहण करके मौन रह जाने से शान्त की अवस्था में विषयों को ग्रहण न करके उस राजा नल जो इस दमयन्ती के लिए दिखला दिया।[1]"

आशय यह है कि जागृत अवस्था में व्यक्ति अपनी इन्द्रियों द्वारा वस्तु ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न की अवस्था में सभी बाह्य इन्द्रियां व्यापार शून्य होती है और इस अवस्था में होने वाला ज्ञान केवल मन का रहता है। अतः यहां का गया है कि निन्द्रा ने नेत्रों तथा बाह्य इन्द्रियों के लोप हो जाने से मन से छिपाकर राजा नल का दर्शन दमयन्ती को कराया।

वेदान्त दर्शन में आत्मा को सर्वथा निष्प्रपञ्च अर्थात अद्वैत बताया है। यही पञ्चवाद कोटि कहलाता है।

महाकवि श्री हर्ष ने नैषध महाकाव्य में वेदान्त के अद्वैतवाद का वर्णन इस प्रकार किया है।

"निषधराज नल के इन्द्रादि चारों के दमयन्ती को वंचित करने के लिए नल का रूप धारण कर दमयन्ती प्राप्ति में बाधक होने पर उस दमयन्ती को पाने के इच्छुक पांचवे स्थान में स्थिति को उस प्रकार श्रद्धा नही किया। जिस प्रकार शास्त्रीय मतो के अनेक मत रहने पर चार पक्षों (सत् असत् सदसत् एवं सदसत् से विलक्षण) के उस वास्तविक प्रतीति को

---

1. निमीलितादक्षियुग्गाच्च निद्रया हृदोऽपि मौनमुद्रितान्।
अदर्शि संगोप्य कदाव्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः।। नै. 1/40

रोकते है पर अभेद प्रतिपादक उक्त चार पक्षों से विभिन्न पंचम पक्षमात्र में स्थित अतिशय सत्य अद्वैत तत्व में लोक श्रद्धा नही करता है।[1]''

महाकवि श्रीहर्ष ने ब्रह्म के सम्बंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किया- ''जिस तरह योगी के चित्त अनिर्वचनीय रूप वाले ब्रह्म को प्राप्त करते है उसी प्रकार दमयन्ती सखियों के साथ विभिन्न विषयों को ग्रहण न करके केवल अचानक उपस्थित हुए स्वर्णिम हंस को देखने लगे।[2]''

आशय यह है कि सखियों के साथ दमयन्ती का चित्र सांसारिक विषय को छोड़कर अचानक सामने आये एक अप्रतिम सौन्दर्य रूप वाले स्वर्णिम हंस को देखने लगी। यह वैसा ही है जैसा कि योगी लोगों के चित्त उन लौकिक विषयों से इतर अनिवर्चनीय रूप वाले ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार निरूपाधिक निर्वैयाक्तिक पर ब्रह्म का सोपाधिक व्यक्तित्व सम्पन्न रूप है। वह सर्वगुण सम्पन्न, सृष्टि के कर्ता, धर्ता, हर्ता एवं नियन्ता है।

नैषध में महाकवि श्री हर्ष ने वेदान्त के उपरोक्त मत का वर्णन राजा नल के माध्यम से इस प्रकार किया-

''युक्तिसंगत शास्त्रों तथा उपनिषदों के सर्वखल्लिद ब्रह्म आदि प्रमाणों से जगत की समस्त वस्तुओं में एक ही सत्ता का आभास होता है। अत:

---

1. पाप्तुं प्रयच्छति च पक्ष चतुष्टये तां तल्लाभसंसिन न पंचमोकोटि मात्रे।
   श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्व इव सत्यतरेऽपि लोक:।। नै. 13/35
2. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
   प्राप्स्मेंक निरूपाख्यरूपं ब्रह्मोव चेतांसि यत्रवतानाम्।। नै. 3/3

इसमें कोई भेद नही माना जा सकता है किन्तु आपकी इच्छा के कारण जो अनिवार्य अनाद्य अविद्यारूप है, प्रत्येक वस्तु पृथक प्रतीत होती है।[1]''

ब्रह्म प्राप्ति अथवा आत्मदर्शन के उपाय विधि तथा उससे साक्षात्कार का विस्तृत विवेचन वेदान्त का मुख्य विषय है। शंकराचार्य कहते है कि ब्रह्मभावश्च मोक्षः अर्थात् मोक्ष ब्रह्मभाव है।

ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में श्री हर्ष ने दमयन्ती के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार कहा है-

''दमयन्ती ने चलते हुए हंस को भयमुक्त हाथ से पकड़ने के लिए यत्नपूर्वक अपने शरीर में उस प्रकार निश्चलता को प्राप्त किया, जिस प्रकार सम्यक रूप से ध्यान किये गये तथा शरीर में ग्रहण करने के लिए मुनि मनोवृत्ति यन्नपूर्वक निश्चलता को प्राप्त होती है।[2]''

आशय यह है कि जिस तरह मुनियों की मनोवृत्ति ब्रह्म साक्षात्कार के लिए आदरयुक्त भाव जानने की इच्छा से निश्चल बन जाती है उसी प्रकार दमयन्ती की इच्छा भी उस स्वर्णिम हंस को यत्न पूर्वक पकड़ने के लिए निश्चल हो गयी।

वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्मः' अर्थात ब्रह्म प्रत्येक जगह पर है। योगी अपने को स्वप्रकाश सचिदानन्द स्वरूप और

---

1. वस्तु वास्तु घटते न भिदानां यौक्तनैकविधवाधविरोधैः।
   तत्वदीहितविृम्भितत्भेदमेतदिति तत्वनिरूक्तिः।। नै. 21/93
2. हंस तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेमनोवृत्तिरिव स्विकायामा्।
   ग्रहीतु कामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे।। नै. 3/4

स्वयं को 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ। वह आत्मा एवं प्रकृति को विवेक द्वारा जानकर बातें करता है।

महाकवि श्रीहर्ष आत्मा एवं प्रकृति की पृथक सत्ता के सबंध में राजा नल के परिप्रेक्ष्य में कहते है-

''नल मुनियों के समान प्रबोधयुक्त हुए अपने स्वरूप(मैं ही नल हूँ) को प्रकाशित करते हुए समझकर प्रकृतिस्थरोदन तथा विलापादि से रहित उस दमयन्ती को देखकर फिर संस्कारों को प्राप्त करने से वचन बोले।[1]''

आशय यह है कि जिस प्रकार शास्त्रों के अभ्यास योग आदि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए योगी अपने को सच्चिदानन्द 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा समझते है, वैसा ही जानकर पूर्व के संस्कारों से प्राप्त सत्व रज तम इन तीनों गुणों तथा संसार के द्वारा उत्पन्न अविद्या को अलग जानता है। वह बुद्धि द्वारा आत्मा एवं प्रकृति को पृथक मानता है। उसी प्रकार विलाप में डूबी दमयन्ती को देखकर उन्माद रहित होकर राजा नल ने दूत धर्म को भूलकर अपना परिचय उसे दे दिया।

प्रख्यात टीकाकार मल्लिनाथ अपनी टीका में लिखते हैं- अथैवं भ्रान्त्यनन्तरमासौ नलो मुनिर्यथा मुनिर्यथा मुनिरिव प्रबोध वानुत्पन्नतत्वाबबोधः सन्नेत्मानं स्व स्परूप प्रकाशयन्तं सन्तमबुध्यत, नल रूपता प्रकशितेत्य बुद्धेत्यर्थः। अथ प्रपन्ना प्राप्तं तां प्रकृति स्वभावं विलोक्यपि ज्ञात्वापि अवाप्तः उद्‌बुद्ध संस्कारों निजदूततवस्पकारकवासनायेन यस्य भावस्त्तता तथा

---

1. मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसाबबुध्यता।
   अपि प्रपन्ना प्रकृति विलोक्य तामवाप्त संस्कार तयाऽसृजदिगरः।। नै. 9/131

गिरो दूत्यानुगणान्येव वाक्यान्य सृज दवोचरित्मर्थ यथा मुर्नियोगलाब्धात्मतवाव बोधेऽपि वासनावशात् वाह्यमनुसन्दधते तया नलोऽपि प्रकटितात्मा पुनः संस्कारवशात् इत्यमेवानुसरन्नुवाचेत्यर्थः।

वेदान्त में आत्मा के रहस्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आत्मा सारे भौतिक पदार्थ से परे है। वाक् मनस् चित्त, संकल्प, अन्न, तेजस, आकाश आदि सब में आत्मा की सत्ता है।

महाकवि श्री हर्ष आत्मा का वर्णन दमयन्ती के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार करते है–

''दमयन्ती सभी शुभ लक्षणों से युक्त अंगों वाली एवं बहुसंख्यक भाग्यवान सुसम्पन्न तेजस्वी देवताओं तथा राजाओं का त्याग किया और अनिवर्चनीय सौन्दर्य शाली आनन्दमय पुरुष नल को प्राप्त किया। इसी प्रकार उपनिषद विद्या भी पृथ्वी आप वायु आकाश, काल, दिक् तथा मन आदि दृष्यों का निषेध कर गूढ़ अर्थ वाली शिक्षा, कल्प व्याकरण आदि वेदांग के छः अंगों वाले चैतन्यस्वरूप अपरिमित आनन्दयुक्त एक पुरुष में लीन हो गयी।[1]''

आशय यह है कि दमयन्ती उस समय उपनिषद विद्या के समान हो गयी थी। जिस प्रकार उपनिषद विद्या पृथ्वी, आप, तेज, आकाश, दिक्, काल, मन एवं वायु आदि आठों द्रव्यों की सत्ता का निराकरण एक साथ

---

1. साऽनन्तानप्यतेजः सखनिखलमरू त्पार्थिवान् दिष्टभाज,
   श्चिप्तेनाशजुषस्तान्समम समगुणान्मुञ्चती मूढ़भावा।
   पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमकं शुभांगी,
   निःसीमानन्द मासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूवः।। नै. 11/29

करती है। वह व्याकरण आदि छः शुभ अंगों से युक्त होती है एवं अनिवर्चनीय रूप से ज्ञान कोष असीम आनन्दमुक्त एक विशेष पुरुष में लीन रहती है। दमयन्ती ने वैसा ही वैभव प्राप्त किया और उन तमाम अद्वितीय गुणों वाले असंख्य तजस्वी देवताओं तथा राजाओं को त्यागा। वह अपने अभीष्ट को गोपनीय रखे अतुलनीय सौन्दर्य वाले ज्ञानवान उत्साहयुक्त किसी पुरुष विशेष में लीन थी।

छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम् अध्याय में आत्मा के विषय में कहा गया है कि वह आत्मा भौतिक पदार्थो एवं मानसिक कार्य कलापों से ऊपर है। वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आप, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण आदि में आत्मा श्रेष्ठ है। एवं सर्वत्र व्याप्त है।

आत्मा के सम्बंध में श्रीमद्भगवत् गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं- ''आत्मा को शस्त्र काट नही सकता है। आग आत्मा को जला नही सकती है। इसे किसी भी प्रकार से गीला भी नही किया जा सकता है। वायु इसे कभी सुखा नहीं सकती है। इस प्रकार आत्मा अमर एवं अजर है।[1]''

आत्मा के सम्बन्ध में सभी दर्शन एक मत नही है, इनका आत्म हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं-

1. सांख्य दर्शन- आत्म शरीर से भिन्न शुद्ध स्वभाव वाली है।

---

1. नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दाहति पावकः।
न च क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।। गी. 2/23

2. नैय्यायिक दर्शन- सर्व व्यापक एवं विशेष गुणों से युक्त आत्मा शरीर से भिन्न है।

3. अद्वैत दर्शन- प्रत्येक शरीर में भिन्न शरीर के बराबर प्रमाण वाले संकुचित एवं विस्तार करने वाले बहुत आत्मा है।

4. बौद्ध दर्शन- ये भी शरीर से भिन्न एवं बहु आत्मा के पोषक है। इस प्रकार सत्, असत्, सदसत्, सदसद् विलक्षण चार पक्ष अद्वैत ब्रह्म सिद्धान्त को बाधित करते है।

वेदान्त दर्शन में सांसारिक दशा को मोहदशा कहते है शंकर इसे ही माया कहते हैं। मोक्ष की दशा को आनन्द दशा कहते है।

वेदान्त के इस सिद्धान्त को महाकवि श्रीहर्ष ने इस प्रकार व्यक्त किया-

"उस नल को देखने के समय नल के अलभ्य दर्शन लाभ से आनन्द स्वरूप तथा अत्यन्त अनिवर्चनीय मोह वाली उस दमयन्ती ने ब्रह्म तुल्य तथा मोह होने से संसारी की अवस्थओं से शुद्ध उल्लास या मधुर द्वितीय स्वाद को प्राप्त किया।[1]"

आशय यह है कि- मुक्त व्यक्ति संसारी नहीं हो सकता एवं संसाररत व्यक्ति मुक्त या मोक्ष नही प्राप्त कर सकता है दमयन्ती ने नल को देखने से आनन्द वाली तथा नल इस सुरक्षित अन्त:पुर में कैसे आये, इस भ्रान्ति वाली होकर इन दोनों अवस्थाओं का एक साथ प्राप्त किया।

---

1. तत्कालमानन्दमयी भवन्ति भवत्तरानर्वचनीयमोहा।
   सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वाद मुल्लासम भुड्क्तमृष्टम्।। नै. 8/15

वेदान्त दर्शन स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का वर्णन भी मिलता है। सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में शंकराचार्य कहते है–

''सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान तत्व होता है अतः कभी–कभी मन को ही सूक्ष्म या लिंग शरीर कहते है।[1]''

आशय यह है कि मरने के बाद सबसे पहले आत्मा शरीर से निकलता है और फिर प्राण, फिर सभी इन्द्रियां, इसके बाद स्थूल शरीर मृत हो जाता है। इस प्रकार स्थूल शरीर में ही पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, पांच प्राण एक बुद्धि और एक मन सम्मिलित है। मन सर्वप्रधान है अतः इसे ही सूक्ष्म शरीर कहा जा सकता है।

महाकवि श्रीहर्ष ने वेदान्त के उपरोक्त सिद्धान्त का वर्णन दययन्ती के परिप्रेक्ष्य में किया है–

''यह युग बीत रहा है किन्तु एक क्षण नही बीत रहा है क्योंकि निश्चय ही कान्त अन्तरात्मा में मुझे नहीं छोड़ेगे और उसे मेरा मन नही छोड़ेगा तथा उस मन को काय वायु अर्थात् शरीरस्थ प्राण वायु नही छोड़ेगा। इस प्रकार परम्परा के सर्वदा बने रहने से मेरी मृत्यु भी दुर्लभ है।[2]''

आशय यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसर सर्व प्रथम आत्मा फिर प्राण तथा इन्द्रियों के निकल जाने पर ही शरीर मृत हो जाता है। इसी प्रकार का विचार करती हुयी दमयन्ती सोचती है कि नल मेरी आत्मा को

---

1. लिङ्ग मनः, मनः प्रधानत्वात् लिंगस्य मनः लिंगमित्युच्यते। श.भ.वृ.उ. 4/4/6
2. अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति में।
   स मां न कान्तः स्फुटमन्तरूस्झिता न तं मनस्तच्च श्राद्धतमेव सैन्धवाः।। नै. 9/94

नही छोड़ेगा, नल को मन नही छोड़ेगा तथा प्राण मन को नहीं छोड़ेगा। अगर सभी एक दूसरे से संयुक्त रहे तो मृत्यु भी नही आ सकती है। इस प्रकार इतने कष्ट सहते हुए मै। मृत्यु कैसे प्राप्त करूं।

अद्वैत वेदान्त में जीवात्मा एवं ब्रह्म में प्रकाश और अंधकार की तरह भेद रहित सम्बंध है। ये दो नहीं एक अद्वैत है। ''आत्मानमेव निर्विशेष बह्माविद्धि:'' अर्थात आत्म ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही आत्मा है। ''तत्वमसिश्वेतकेतो अर्थात हे श्वेत केतु तुम वही हो। उपरोक्त वाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्रतिपादित करते है। इन्हें महावाक्य कहते है। प्रश्न यह है कि इन महावाक्यों से अभेद अर्थ कैसे सिद्ध हो क्योंकि सामान्यत: इनका अर्थ तो निकलता ही नहीं है। साधारण सृष्टि से जीव अल्पज्ञ अनित्य शान्त है और ब्रह्म सर्वज्ञ नित्य और अनन्त है। जीव कर्ता भोक्ता एवं ज्ञाता है और ब्रह्म शुद्ध युक्त है। जीव संसार में सुख-दुख का अनुभव करता है, ब्रह्म परिमार्थिक है केवल आनन्द रूप है फिर जीव और ब्रह्म एक ही है कैसे संभव है। सामान्य दृष्टि से इस श्रुति वाक्य में विरोध है।

शब्द के अर्थ का ज्ञान दो प्रकार से होता है अविधा और लक्षणा से । शब्द की मुख्य वृत्ति अविधा कहलाती है। इसे ही शक्ति कहते है। इस शक्ति का ज्ञान ही हमें व्याकरण कोष आदि से होता हैं जैसे- 'गौ' शब्द है उससे गो-व्यक्ति नामक पदार्थ का ज्ञान होता है। दूसरे अर्थ में 'गो' शब्द का अभिधेय अर्थ है। संक्षेप में यह शाब्दिक है किन्तु शब्द का केवल शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण नही होता है, कहीं-कहीं लाक्षणिक

अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जहज्जहत् लक्षणा- जहत और अजह्त दोनों है अर्थात् इसमें कुछ त्याग भी करना है, कुछ नही भी करना है। जैसे- सोऽयं देवदत्त:'' अर्थात यह वही देवदत्त है, जिसे मैने पहले कहीं देखा था। उसे ही इस स्थान पर प्रत्यक्ष कर रह हूँ। उपरोक्त वाक्य में देवदत्त तो एक ही है किन्तु पहले देखा गया देवदत्त तो एक ही है किन्तु पहले देखा गया देवदत्त किसी दूसरे वेश काल में था, जिसे अब मैं यहां देख रहा हूँ। अब वही देवदत्त इस समय इस स्थान पर दिखायी दे रहा है। इस वाक्य में हम स्थान वेश एवं काल को भूल जाते हैं।

अद्वैत वेदान्ती शंकर का कहना है कि 'तत्वमसि' महावाक्य का अर्थ जहज्जहत् लक्षणा से ही स्पष्ट हो सकता है इस वाक्य में 'तत्' शब्द ब्रह्मा के लिए तथा 'त्व' शब्द का अर्थ जीव के लिए है। अत: इसका अर्थ है कि ब्रह्म या जीव दोनों अभिन्न है कैसे जीव अल्पज्ञ है अणु है और शान्त है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, विभु है और अनन्त है। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में शुद्ध चैतन्य है। इस प्रकार तत् ब्रह्म से सर्वज्ञ विभु आदि विशेषणों का त्याग करते है और त्वं (जीव) के अल्पज्ञ अणु आदि विशेषणों का त्याग नही करते है। विशेष्य 'शुद्ध चैतन्य' का त्याग नही करते है। इस प्रकार जहज्जहत् लक्षणा से महावाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि जीव और दोनों अभिन्न है- जीवों ब्रह्ममैव नापर:। जीव एवं ब्रह्म का सम्बंध समानाधिकरण्य बतलाया गया है अर्थात दोनों का अधिकरण चैतन्य समान है। जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्त' में समानाधिकरण सम्बन्ध है, उसी प्रकार 'तत्वमसि' में है। जिस प्रकार हम तत्कालीन एवं एतत्कालीन विशेषता का त्याग कर केवल विशेषण देवदत्त

को लेते है उसी प्रकार 'तत' (ब्रह्म) एवं 'त्वं' (जीव) के सभी विशेषणों का त्याग कर विशेषण 'शुद्ध चैतन्य' को लेते है। आत्मा की यह अविस्थिति अज्ञान की विकृति से ही संभव है। जब तक अज्ञान का आवरण रहेगा तब तक आत्मा की स्थिति यह नही होगी। इसी कारण शंकराचार्य मिथ्याज्ञान निवृत्ति मात्र मोक्षम् अर्थात अज्ञान या मिथ्याज्ञान के विनाश को मोक्ष कहते है। मिथ्याज्ञान के विनाश से आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान हो जाता है। यह आत्मज्ञान सर्वोत्मभाव है तथा सर्व ब्रह्म है। अतः सर्वात्मभाव ब्रह्म ज्ञान है। यही मोक्ष की अवस्था है। यह आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का ज्ञान है।

महाकवि श्री हर्ष को परम वैष्णव होना कहा गया है क्योंकि उन्होंने सभी देवताओं की स्तुति की है, उन्होर्ने विशेष रूप से विष्णु को ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया। महाकवि श्री हर्ष ने भी विष्णु के कच्छपावतार, बराहवतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार, कृष्णावतार, दत्तात्रेयावतार एवं कल्कि अवतार का वर्णन करते है।-

महाकवि श्री हर्ष विष्णु के मत्स्यावतार का वर्णन इस प्रकार करते है।

**"छदमत्स्यवनुषस्तव पुच्छास्फालनाज्ज लमिवोद्धतमब्धे।**
**श्वैत्यमेत्य गगनागंणसंगादाविररास्ति विषुधालयगंगा।।"**

निम्न लिखित श्लोक में उन्होंने कच्छपावतार का वर्णन इस प्रकार किया-

"भूरि सृष्टि घृत भूवलयानां पृष्ठसीमनि किणैरिवचक्रैः।

चुम्बिताऽवतु जगत् क्षितिरक्षा कर्मठस्य कमठस्तव मूर्तिः।

महाकवि श्री हर्ष वराहवतार को इस प्रकार बताते है-

"दिक्षु यत्खुरचतुष्टयमुद्रामम्यवामि चतुरोऽपि समुद्रान।

तस्य पौत्रिवपुष्स्तव दृष्टा वुष्टमेऽस्तु मम वास्तु जगत्याः।।"

"उद्धातिस्खज दिलापरिरम्भाल्लो मर्भिर्वहिरितै र्बहुदृष्टै।

ब्रह्ममण्डमभवद् बलिनीपं केलिकोल! तव तत्र न मानुः।।"

महाकवि श्री हर्ष प्रस्तुत श्लोक में नृसिंहावतारका वर्णन इस प्रकार करते है-

"दान बौधगहनप्रभवस्त्वं सिंह! भामवरवैर्धनघोरैः।

वैरिवारिदि विषत्सुकृता स्वग्राम संभवभवन्मनुजार्द्धः।।

दैत्य भर्त्तरूदरान्ध्रनि विष्टां शक्रसम्पद मिवोद्वरवस्ते।

पातु पाणिसृणिपञ्चक मस्मांरिछन्नरञ्जुमिभ लग्न तदन्त्रम्।"

महाकवि श्री हर्ष ने वामनावतार को इस प्रकार स्पष्ट किया-

"स्वेन पूर्वत इयं सकला शाभो! नमम किं भवतेति।

त्वं बटुः कपटवाचि पटीयान् देहि वामन! मनः प्रभदं नः।।

दान वारि रसिकाय विभूतिवैश्मि तेऽस्मि सुतरां प्रतिपात्तिम्।

इत्यदग्रपुलकं बलिनोक्तं त्वां नमामि कृतवामनामायम्।।

भोगिभिः क्षिति तले दीवि वासं वन्धमेष्यसि चिरं ध्रियभाणः।

पाणिरेष भवनं वितरेति छदमवाग्मिरव वामन विन्नम।।

आशयस्य विवृत्ति क्रियते कि? दित्सुरस्मि हि भवञ्चरेभ्यः।

विश्वमित्यभिहितो बलिनाऽस्यान् वामन! प्रणतपावन पायाः।।"

महाकवि श्रीहर्ष ने परशुरामावतार की विवेचना इस प्रकार किया–

"छत्रजातिरूदियाय भुजाभ्यां या तवैय भुवनं सुजतः प्राक्।

जमदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थ मुचितौ विजयेताम्।।

पाशुला बहुपत्तिर्नियतं या वेधसाऽरचि रूपा नवखण्डा।

तां भुवं कृतवतो द्विजभुक्तां युक्तकरितरता तव जीयत्।।

कार्त्तवीर्यभिदुरेण दशास्ये रैणुकय! भवता सुखानाश्ये।

कालभेदविरहाद समाधि नौमि राम पुनरूक्तिमहं ते।।"

महाकवि श्री हर्ष ने निम्नलिखित पद्य में राम के अवतार का वर्णन किया है।–

"हस्तेलेखमसृजत खलु जन्मस्थानरेणु कमसौ भवदर्शम्।

राम! राममधरीकृत तत्तल्लेखकः प्रथमेव विधाता।।

उद्भव जतनुजादज! कामं विश्वभूषण! न दूषणमत्र।

दूषणप्रशमानाय समर्थ मेन देव! तव वैभव मेन।।

नो ददासि यदि तत्वधियं मे यच्छ मोहमपि तं रघुवत्स।

येन रावण चमूर्मुधि मूढ़ा त्वन्मयं जगदपश्यशेषम्।।

आज्ञया च पितुरज्ञाभिया च श्री रहीयत महप्रभावद्धि।

लघिंतश्च भवता किं च द्विर्वारिराशि रूदकांग कलंक।।''

इसी प्रकार उन्होनें कृष्णावतार का वर्णन किया है।-

''ने निर्ऋतिव्रतातिं में यैः स कल्पविल्पौ तव दोर्भिः।

इद्ययादवतनोरूदपाटि, स्पर्द्धमान इव दानमदेन।।

बालकेलिषु तदा यदलावीः कर्परीभिरमिहत्य तरंगान्।

भाविवाणभुज भेदन लीला सूत्रपात्र इव पातु तदस्मान।।

कर्णशक्तिं फलां खलु कर्त्तुं सज्जितार्जुन स्थाय नमस्ते।

केतनेन कपिनोरसि शक्तिं लक्ष्मणं कृतवता हृतशयम्।।

नावगेमनमयः सशरीरं द्या वरेण नितरामपि भक्तं।

मास्म भूत सुख वधू सुरतजो दिव्यापि व्रतनिलोपभियेति।।''

निम्नलिखित पद्य में महाकवि श्रीहर्ष विष्णु के दसवें अवतार कल्कि का वर्णन करते है।-

''धूमवतकलतया युधि कालंम्लेच्छकल्पशिखिना करवालम्।

कलिकाना दशतयं मम कल्कं त्वं त्युदस्च दशभावतरेण।।

देहिनेव यशसा भ्रमतोर्त्या पण्डुरेण रणरेणुसिरूच्चैः।

विष्णुना जनयितुर्भवताऽभुन्नाम विष्णुयशसन्न सर्दथम्।।''

महाकवि श्री ने कवि दत्रात्रेय अवतार का वर्णन निन्नलिखित श्लोक में किया-

''सन्तमहृदयभयेऽध्वनि दत्रायमर्जुन यशोऽर्जुनवीम्।

नोमि योग जनितनघ संज्ञ त्वामलर्क भवमोह तमोऽर्कम्।।''

उपरोक्त प्रकार से महाकवि श्री हर्ष ने भगवान विष्णु के दसो अवतारों का विस्तृत रूप व्याख्यायित किया।

वेदान्त दर्शन में जीवात्मा रूप प्रपंच तथा ब्रह्म दोनों ही के मुक्ति होने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता है।

महाकवि श्री हर्ष ने वेदान्त के इस सिद्धान्त को चार्वाक के द्वारा उपहसित होना बताया है।-

''संसार दशा में जीवात्मास्वरूप प्रपंच तथा ब्रह्म दोनों हैं मुक्ति होने पर केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यह वेदान्तियों का स्व का अभाव रूप मुक्ति के कथन में बहुत बड़ा चातुर्य है।[1]''

आशय यह है जब तक जीवरूपी पपंच है तब तक जीव को जीव का ब्रह्म की सत्ता का अलग-अलग ज्ञान होता है किन्तु जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात जीवात्मा की निवृत्ति हो जाने पर केवल शुद्ध ब्रह्म ही अवशेष बचता है। श्रुति में इसी का प्रतिपादन किया गया है। ''एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म'' अर्थात एक ही वह

---

1. स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्ततौतु ब्रह्म केवलं।
   इति स्वोच्छिंत्तिमत्तयुक्ति वेदावादिनाम्।। नै. 17/74

अद्वितीय ब्रह्म है। इसी का खण्डन करता हुआ चार्वाक कलि के मुख से वह कहलवाता है कि वेदान्तियों ने अपनी ही सत्ता का उच्छेद करके मुक्ति स्वीकार किया।

इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष परम वेदान्ती थे क्योंकि वे अपने समाधि में भी ब्रह्मा का साक्षात्कार करते है। उन्होंने अपने महाकाव्य में वेदान्त के सिद्धान्त का नल एवं दमयन्ती के माध्यम से विस्तारित किया।

**बौद्ध दर्शन:**

बौद्ध दर्शन के प्रर्वतक महात्मा बुद्ध थे। इनका जन्म हिमालय की तराई में कपिलवस्तु के लुम्बनी में हुआ। बचपन का नाम सिद्धार्थ था। सांसारिक दुखों की निवृत्ति के सन्दर्भ में इन्हें बोध प्राप्त हुआ, अत: ये बुद्ध कहलाये और इनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग बौद्ध दर्शन कहलाया।

बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन की पंक्ति में अग्रणी है क्योंकि महात्मा बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्डों का विरोध किया था।

बौद्ध दर्शन अत्यन्त समृद्ध है किन्तु बौद्ध दर्शन में मूल साहित्यों का अभाव है। उपलब्ध साहित्यों में 'पिटक' का बहुत महत्व है। यह तीन भागों 1. विनय पिटक 2. अभिधम्म पिटक 3. सुत्तपिटक, में उपलब्ध है। विनय पिटक में बौद्ध संघ के नियम एवं आचरण संग्रहीत है। सुत्तपिटक में महात्मा बुद्ध के उपदेश एवं वार्तालाप का संग्रह है। बौद्ध दर्शन के समस्त दार्शनिक विचार अभिधम्म पिटक में संग्रहीत है।

कालान्तर बौद्ध दर्शन चार प्रमुख शाखाओं में विभक्त हो गया। ये निम्न लिखित है-

1. शून्यवादी या माध्यमिक दर्शन प्रवर्तक नागार्जुन।

2. गोचर या विज्ञानवादी दर्शन।

3. बाह्यनुमेयवादी या सौत्रांत्तिक दर्शन।

4. बाह्यप्रत्यक्षवादी या बैभाषिक दर्शन।

उपरोक्त बौद्ध दर्शन की शाखाओं में माध्यमिक या शून्यवादी का स्थान सर्वोपरि है। माध्यमिक न तो पूर्ण रूप से संसारी होते है और न ही पूर्ण रूप से गृहस्थ है। इन्होंने बुद्ध का अनुकरण पूर्ण रूप से किया और मध्यम मार्ग पर बल दिया।

महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में बौद्ध दर्शन के उपरोक्त सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

सरस्वती के रूप वर्णन प्रसंग माध्यमिक दर्शन के शून्वाद को महाकवि श्रीहर्ष व्यक्त करते है।-

"जो सरस्वती सोम सिद्धान्त रूप मुख्य वाली शून्यवाद के समान उदरवाली तथा विज्ञानसाभरत्य अर्थात विशिष्ट ज्ञान वाली रूप चित्त वाली साकारता सिद्ध सुन्दर आकृति रूप सम्पूर्ण अवयवों वाली है।[1]"

महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध में राजा नल द्वारा बुद्ध रूप भगवान विष्णु की प्रार्थना के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध दर्शन के अद्वयवाद को विस्तारित करते है।-

---

1. या सोमसि सिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मातावादमयोदरेव।
विज्ञान सामस्त्यमयान्तरैव सकाराता सिद्धिमयाखिलेव।। नै. 10/88

"हे प्रभु आपका बुद्ध अवतार मेरी रक्षा करे। जिसमें चित्त को क्षणिक माना एवं ज्ञान रूपी वस्तु की सत्ता सत्य मानी है तथा चार कोटियों को स्वीकार न करके काम विजयी तुम षडभिज्ञ-1. दिव्यचक्षु श्रोत्र 2. परिचित्तज्ञान 3. आत्माज्ञान 4. पूर्व निवास का अनुकरण 5. प्रकाश गमन 6. काम व्यूहसिद्धि अथवा 1. ज्ञान 2. शील 3. क्षमा 4. वीर्य 5. ध्यान 6. प्रज्ञा या 1. देवादि व्यवहित वस्तु देखना 2. देशादि व्यवहित शब्द सुनना 3. पूर्व जन्म का स्मरण 4. दूसरों के मन की बात जानना 5. अविद्या अहंकार राग द्वैष अभिनिवेश रूप पांच क्लेशों का नाश 6. अणिमादि सिद्धि इनके ज्ञाता। आप मेरी रक्षा करें।[1]"

महाकवि श्री हर्ष ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से बौद्ध के शून्यवाद एवं विज्ञान को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं-

"जागरण समयात्मक दिन में अदृष्ट ताराओं को आकाश पुष्प दिखलाती हुई रात्रि शून्य मार्ग में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होने के समय में बाधित नक्षत्र रूपी आकाश पुष्पों का दृष्टान्त देती हुई यह योगिनी ज्ञान भिन्न सब पदार्थ को शून्य कहने वाली बौद्ध के रहस्य को जानती हुई स्पष्ट दृश्यमान संसार को भी असत्य कहती है।[2]"

---

1. एकचित्ततिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितोऽथ बुधस्तवम्।
   यदि मां विद्युत कोटि चतुष्कः पञ्चवाण विजयीषडविधः।। नै. 21/87
2. प्रवोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः स्वपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
   निशाह शून्यध्वान योगिनीयं मृषा जगद् दृष्टिापि स्फुटाभम्।। नै. 22/23

आशय यह है कि दिन में सूर्य प्रकाश के समय सभी तारे विलीन हो जाते हैं वैसे ही भ्रान्ति के कारण आकाश पुष्प दिखता है जैसे ही भ्रान्ति समाप्त होती है। आकाश पुष्प नहीं दिखता है। इसी तरह भ्रान्ति के कारण यह स्थावरजंगम संसार प्रतीत होता है एवं तत्व ज्ञान होने भ्रान्ति नाश हो जाती है और संसार असत्य लगने लगता है।

महाकवि श्री हर्ष बौद्ध दर्शन के अस्थिरवाद का उल्लेख चार्वाक के माध्यम से करते है।-

"बुद्ध अनिवर्चनीय महिमा वाले हुए क्योंकि वेद के रहस्य को प्रकट करने के लिए अर्थात उसकी प्रमाणिकता नष्ट करने के लिए सत्व के कारण संसार अनित्य है।[1]"

आशय यह है कि वेद के रहस्य को प्रकट करने के लिए एवं प्रमाणिकता के सिद्धि के लिए बुद्ध ने जन्म लिया एवं सत्व के कारण जगत अनित्य कहा गया। बौद्ध सिद्धान्त है कि जो सत् है वह अनित्य है। इस प्रकार यह संसार अनित्य सिद्ध हुआ। आत्मा की संसार के अर्न्तगत होने के कारण अनित्य एवं क्षणिक है जिस आत्मा के द्वारा पाप पुण्य का भोग किया जाता है अंश मात्र नष्ट हो गया। अतः पाप पुण्य का भोग करने वाली आत्मा कभी नहीं हो सकती है। इसलिए बौद्ध कहता है कि पाप से डरकर पारलौकिक सुख को पाने की इच्छा से इस

---

1. केनापि बोधिसत्वेन जातं सत्वेन हेतुना।
   यद्धेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम्।। नै. 17/27

जन्म के सुख का त्याग नही करना चाहिए। सुख के कारण ही इस संसार को क्षणभंगुर कहा गया।

''महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध में देवी सरस्वती के चित्त की रचना विज्ञानवाद से कल्पित किया है।[1]''

आशय यह है कि विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान से अलग रहने के कारण वस्तु की कोई सत्ता नही है। ज्ञान के कारण वस्तु की वाह्य सत्ता दिखाई पड़ती है।

बाह्य अस्तित्ववादी सौत्रान्तिक बौद्धों को साकारवादी कहते है उनके मतानुसार सबसे पहले हमारे ज्ञान वस्तु के आकार का प्रभाव पड़ता है, जिसमें हम वस्तु का अनुमान लगाते है।

महाकवि श्री हर्ष ने 'साकारतसिद्धिमयाखिलव' अर्थात सरस्वती देवी का सम्पूर्ण रूप बौद्धों के साकारतावाद से ही किया जा सकता है।

इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

## जैन दर्शन:

जैन दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। जैन धर्म में कुल चौबीस तीर्थंकर हुए। महावीर इस कड़ी में अन्तिम एवं चौबिसवें तीर्थंकर थे। शेष तेइस प्रागऐतिहासिक काल के है। तीर्थंकरों को 'जिन' कहा जाता था, जिसका अर्थ होता है 'विजेता'। 'जिन' के आधार पर इस जैन दर्शन कहा गया।

---

1. विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव। नै. 10/88

जिन लोग स्वभावसिद्ध जन्म सिद्ध शुद्ध बुद्ध भगवान नही होते बल्कि साधारण प्राणियों के समान जन्म लेते हैं, काम, क्रोध आदि विकारों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा बन जाते है।

''जैन दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र निम्न लिखित त्रिरत्नों पर निर्भर करता है-

1. सम्यक दर्शन- युक्तिपूर्व यथार्थ तत्वों एवं वचनों में विश्वास करना सम्यक दर्शन कहलाता है।
2. सम्यक ज्ञान- सम्यक ज्ञान में जीवादि के मूल तत्वों का विशेष ज्ञान होता है।
3. सम्यक चरित्र- भव बन्धन में बाधे रहने वाले समस्त कर्मो का परित्याग करना सम्यक चरित्र है।

महाकवि श्रीहर्ष नैषध में जैन दर्शन के त्रिरत्न का उल्लेख करते हुए कहते है-

''जिनेन्द्र ने जिस धर्मरूप चिन्तामणि को रत्नत्रय (सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र) में रखा है, वह उस धर्मरूप चिन्तामणि को जिस स्त्री ने कपालधारी को क्रोधाग्नि से भस्म अर्थात कामदेव के लिए छोड़ दिया उस स्त्री ने अपने वंश में वही भस्म फैला दिया।[1]''

आशय यह है कि- जिनेन्द्र ने सम्यक चरित्र रूपी धर्म चिन्तामणि की तीन रत्नों मे गणना की है, ऐसे उत्तम पदार्थ की जो स्त्री शंकर की

1. न्यावेशि रत्नत्रितये जिनेय य: सधर्म चिन्तामणिसझिते यया।
कपालिकोपानलभस्मन: कृते तदेव भस्म स्वकुले सुर्ततं तया।। नै. 9/71

कोपाग्नि से भस्म अर्थात कामदेव के लिए त्याग करती है। वह स्वच्छ एंव उत्तम पदार्थ पर भस्म फेंकने के कारण अपने वंश को दूषित करती है। जिस प्रकार कोई स्त्री किसी पुरूष का वरण कर लेने पर किसी दूसरे पर आसक्त नहीं रहती उसी प्रकार दमयन्ती कहती है कि धर्म रूपी चरित्र का त्याग कर अपने वंश में कलंक नहीं लगाउंगी। मैनें एक बार राजा नल का वरण कर लेने पर इन्द्र आदि देवों का वरण नहीं करूंगी।

इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश तार्किक एवं उपयुक्त आधार पर किया है।

## चार्वाक दर्शन:

प्राचीन भारतीय साहित्य में जड़वाद के लिए प्रायः 'चार्वाक' शब्द का प्रयोग किया जाता था। कुछ विद्वानों का मत है कि चार्वाक नामक एक ऋषि थे, जिन्होंने जड़वाद का प्रतिपादन किया, अतः उनके अनुयायी चार्वाक कहलाये। चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निष्पन्न है। 'चर्व' का अर्थ चबाना या भोजन करना है। चूंकि चार्वाक मत में खाने-पीने पर अधिक जोर देते हैं। चार्वाक का कहना था पित्र, खाद च वरलोचने।

चार्वाक दर्शन का एक नाम लोकमत भी है। लोकमत का अर्थ, समस्त संसार में व्याप्त। इस दर्शन का एक अन्य नाम 'बार्हस्पत्य दर्शन' है। भारतीय दर्शन के इतिहास में वृहस्पति चार्वाक दर्शन के संस्थापक माने जाते है।

महाकवि श्री हर्ष अपने महाकाव्य नैषध में चार्वाक के सिद्धान्तों का वर्णन सप्तदश सर्ग में किया है। चार्वाक दर्शन की प्रमाणिकता के सम्बंध में वह कहते हैं।

"हे ज्ञान वृद्धों का फल के विषय में वेद की सत्यता पत्थर के तैरने के समान है, अतएव उसमें क्या विश्वास है? जिसने काम मार्ग को व्यर्थ कर दिया है।[1]"

आशय यह है कि ज्योतिष यज्ञों के फल के विषयों में वेद की प्रमाणिकता पानी पर पत्थर तैरने जैसा है। जिस प्रकार पत्थर पानी पर तैर नहीं सकता है उसी प्रकार यज्ञों के फल स्वर्ग में प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते उसी प्रकार वेद की प्रमाणिकता भी सत्य नहीं अतएव इसमें विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रत्यय प्रमाण को छोड़कर अन्य प्रमाण में विश्वास नही करना चाहिए।

बौद्ध दर्शन के समान चार्वाक भी वेद की प्रमाणिकता में विश्वास नही करते है। बौद्ध दर्शन के उस सिद्धान्त जिसमें-"बुद्ध को अनिवर्चनीय महिमा युक्त कहा गया है क्योंकि वेद के रहस्य को प्रकट करने के लिए अर्थात् उसकी प्रमाणिकता नष्ट करने के लिए सत्व के कारण ही संसार नित्य है।[2]" चार्वाक इसे पूरी तरह स्वीकार करते हैं।

---

1. ग्रोवोन्मजजनवद्यज्ञ-फलऽपि श्रुतिसत्यता।
   का श्रद्धा? तत्र धी वृद्धा कामाद्धा यत् खिलीकृत:।। नै. 17/26
2. केनापि बोधिसत्ववेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
   यदवेदमर्मभेदाय जगदेजगदस्थिरम्।। नै. 17/37

चार्वाक दर्शन में वृहस्पति कहते है- "अग्निहोत्र, तीनों वेद तथा दण्ड धारण करने तथा भस्म लगाने को वृहस्पति ने बुद्धि से रहित व्यक्तियों की जीविका का साधन कहा है।[1]"

नैषध महाकाव्य में चार्वाक के द्वारा श्री हर्ष ने इसी बात की पुष्टि करते हुए कहते है।-

"अग्निहोत्र तीनों वेद त्रिदण्ड धारण करना, भस्म का तिलक लगाना ये सब बुद्धि के सामर्थ्य से हीन लोगों की जीविका है।[2]"

चार्वाक दर्शन वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नही करता है। महाकवि श्रीहर्ष चार्वाक दर्शन के माध्यम से जाति की शुद्धता का उल्लेख किया।

"माता तथा पिता दोनों के वंशो की शुद्धि होने पर शुद्ध संतान होती है परन्तु अनेक वंशो को क्रमशः देखा जाय तो किसी ने किसी वंश शुद्धता मिले या न मिले। इस कारण अनन्त वंश होने के कारण दोष तो कही न कही होगा ही। अतः कोई जाति निर्दोष नहीं है।[3]"

आशय यह है कि मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए जिसका लाभ उसे तत्काल मिल सके। स्त्री संभोग अर्थात सुरति से से हमें तत्काल हमें सुख की अनुभूति होती है और पुण्य अर्जन का लाभ हमें अगले जन्म में

---

1. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मपुडकम्।
   बुद्धि पौरूषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः इति।। स.द.स.पृ.13
2. अग्नि होत्रं त्रयी तन्त्रं त्रिरण्डं भस्म पुण्डवकम्।
   प्रज्ञापौरूषनिः स्वानां जीवों जल्पति जीविका।। नै. 17/38
3. सुकृते व कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
   तत्कर्मग पुरूषं कुर्यात् येनान्ते सुखमेधते।। नै. 17/47

मिलेगा। अतः परोक्ष पुण्य जन्य सुख की अपेक्षा प्रत्यक्ष पाप जन्म में ही श्रद्धा करनी चाहिए। अतः पुण्य कर्म की अपेक्षा पाप कर्म विश्वसनीय है।

चार्वाक दर्शन ब्रह्म आज्ञा से कामाज्ञा को किसी भी प्रकार कम नहीं मानते है।-

"हे मुर्खो! ब्रह्म आदि से भी अनुलङ्घित कामरूप देव की आज्ञा का पालन करो क्योंकि वेद भी देव की आज्ञा है।अतः दोनों आज्ञाओं के देव प्रतिपादित हो से किसी एक में मान्यता और दूसरे में अमान्यता रखने का पक्षपात नहीं करना चाहिए।[1]"

वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों के समबन्ध में चार्वाक कहते है-

"यज्ञ करने वाले अपने इन्द्रियों का निग्रह कर तथा संयम पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण कर स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ करता है क्योंकि वे वहां जाकर अप्सराओं के साथ हर्ष पूर्वक जीवन व्यतीत करने की उनकी इच्छा होती है। चार्वाक जोर देकर कहते है जो व्यक्ति मरकर भी अपनी कामइच्छा का त्याग नहीं कर सकता वह जीवित अवस्था में कैसे करेगा। अर्थात नहीं कर सकता है।[2]"

तात्पर्य है कि पाप का फल भोगने वाले कोई नही बचता यदि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई वस्तु है जिसका वेद आदि दूसरा कोई

---

1. कुरूत्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्मद्यैरप्लिङ्घिताम्।
   वेदाऽपि देवकीमाज्ञा तत्राज्ञा! काऽपिकाऽर्हण।। नै. 17/59
2. साधु कामुकता मुक्ता शानतस्वन्तैर्मखोन्मुखैः।
   सारङलो चनासारां दिवं प्रतयापि लिप्सुभिः।। नै. 17/39

गवाही दे तो सभी आत्मा समान है ऐसी स्थिति में एक आत्मा द्वारा किया पाप दूसरी क्यों नही भोगती है।[1]

चार्वाक दर्शन देहात्मवाद का समर्थन करते हुए कहता है-

"मनुष्य जानता है कि यह मै ही हूँ, दुर्बल मोटापा जैसा भी है मेरा शरीर है। यह हमारा शरीर ही आत्मा है, लेकिन वैदिक ग्रन्थ कहते है कि तुम यह शरीर नही हो बल्कि 'तत्वमसि' हो, यह नितान्त धूर्तता है।[2]"

चार्वाक दर्शन में श्राद्धवाद को प्रबल विरोध किया गया है वृहस्पति कहते है-

"मृत प्राणी के लिए श्राद्ध कर उन्हें तृप्त करना है तो बुझे दीपक को तेल जला सकता है। पथिक को पाथेय लेने की जरूरत नहीं। घर पर उसे श्राद्ध से उसे तृप्त मिल जायेगी यदि स्वर्ग गया प्राणी यहां दिये दान से तृप्त हो जाता है तो महल के ऊपर रहने वालो के लिए नीचे ही भोजन रख देना चाहिए वह तृप्त हो जायेगा। वृहस्पति साफ शब्दों में

---

1. यस्मिन्नस्मीति धीर्देह तद्दाहे च किमेनसा।
   क्वापि तल्किं फलं न स्यादात्मेतिपरसाक्षिको।। नै. 17/51
2. जनेन जानताऽस्मीति कायं नायंत्वमितयसौ।
   त्रयाज्यते ग्राह्यते चान्यदहो! नुत्याऽतिधूर्तया।। नै. 17/51

कहते है कि श्राद्ध का ढोंग ब्राह्मण अपनी आजीविका चलाने के लिए करते है।[1]"

महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में भी इसी तथ्य को इसी तरह प्रतिपादित किया है।-

"मरने पर प्राणी पूर्वजन्मों का स्मरण करता है। मरने पर फलों की परम्परा होती है और ब्राह्मण आदि अन्य लोगों को भोजन करने पर आत्मा तृप्त होती है। धूर्तो की यह बात व्यर्थ है।[2]"

आशय यह है कि देह भिन्न 'आत्मा' नामक पदार्थ नहीं होने से मरने पर पूर्व जन्म स्मृति पूर्वकृत पुण्य पाप कर्म के फलों को भोगना और श्राद्धादि में ब्राह्मणों को खिलाने पर मृतात्मा के तृप्त होना इत्यादि का प्रतिपदित कारने वाले शास्त्रीय वचन धूर्तो द्वारा बनाये गये है।

महाकवि श्री हर्ष चार्वाक के यज्ञादि में विश्वास न करने को इस प्रकार व्यक्त करते है-

---

1. मृतानापि जन्तुनां श्रद्धां चेतृप्तिकारणम्।
   निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नहः समवर्धयेच्छिखाम्।।
   गच्छतामिह जन्तुनां व्यर्थपान्थेय कल्पयनम।
   गेहस्थकृतश्राद्धेन पथितृप्ति सारिता।।
   स्वर्गस्थिता यदा तृप्ति गच्छेयुस्तत्रदानतः।
   प्रसादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्नदीयते।।
   ततश्चजीवनोपायी ब्राह्मणैर्विहिनस्त्विहा।
   मुतानां प्रेत कार्याणि न त्वन्या द्विद्यतेक्वचित्।। स.द.सं.पृ.13

2. एक संदिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि।
   हेतू नाहूः स्वमन्त्रादीनसाङ्गानन्यथा विटाः।। नै. 17/53

''सन्देह युक्त दो कार्यों में एक (सिद्धि या असिद्धि) अवश्य होता है।उन दोनों की इष्ट सिद्धि होने पर धूर्त अपने मंत्र को कारण कहते है अन्यथा असांग (अमुक वस्तु के अभाव से सिद्धि नहीं हुई) कहते है।[1]''

महाकवि श्री हर्ष चार्वाक की परलोक पर अविश्वास की विवेचना इस प्रकार करते है-

''परलोक को जानने वाला कोई नही है अर्थात कोई भी ऐसा व्यक्ति नही जिसने परालोक को प्रत्यक्ष देखा हो। जब वेद ही परलोक के विषय में संशय करे तब वेद को प्रमाण मानने वाला संसार परलोक के अस्तित्व कैसे स्वीकारे।[2]''

महाकवि श्री हर्ष चार्वाक के नास्तिक वाद को स्पष्ट करते हुए कहते है-

''सर्वज्ञ (भूत, वर्तमान एवं भविष्य का ज्ञाता) दयालु और सत्य वचन वाला ईश्वर है तो वह भुक्ति मुक्ति के इच्छुक हम लोगों के केवल वचन मात्र से (तुम लोग मुक्त हो गये) क्यों नही कृतार्थ करता।[3]''

ईश्वर को अस्वीकार करते हुए चार्वाक कहते है कि ''संसारियों के अपने कर्म जन्म दुःखों की प्राप्त करता हुआ अर्थात स्वकर्मानुसार दुःख

---

1. मृतः स्मरति कर्माणि मृते कर्म फलोर्मयः।
   अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्त्तया।। नै. 17/52
2. को हि वेत्ताऽस्त्यमुष्मिन वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
   तत्प्रामाण्यदमुं लोकं जनः प्रत्येति व कथम्।। नै. 17/61
3. देवश्चेदिस्ति सर्वज्ञः करूणा भागवध्यावाक्।
   तत्कि वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिनः? नै. 17/76

भोगने में निमित्त होता हुआ ईश्वर हम लोगों का अकारण शत्रु बनता है। दूसरे लोग तो किसी कारण से ही शत्रुता रखते है।[1]''

चार्वाका दर्शन पुनर्जन्म को नहीं मानते उनका विचार है कि -

''एक बार शरीर नष्ट हो जाय तो उसे पुनः नही प्राप्त किया जा सकता है जब तक जीवन यापन कर, सुःख पुर्वक रहे। हमें अपनी सुख सुविधा का पूरा ध्यान रखना चाहिए। इस सुख-सुविधा के लिए किसी से ऋण लेना पड़े तो संकोच नही करना चाहिए। यह जीवन हमें सिर्फ एक बार के लिए प्राप्त हुआ है। पुर्नजन्म नाम कोई वस्तु नहीं है।[2]''

आत्मा एवं परलोक के सम्बन्ध में चार्वाक का विचार है कि -

''यदि आत्मा नामक काई वस्तु है और मृत्यु के बाद वह परलोक चली जाती है तो बन्धु स्नेह से व्याकुल होकर परलोक से वापस लौटती है।[3]''

चार्वाक के उपरोक्त सिद्धान्त महाकवि श्री हर्ष नैषध में इस प्रकार व्यक्त करते है-

''हे मुर्खो! शान्ति वैराग्य कुछ भी नही है अतः प्रिया को पाने के लिए और अधिक परिश्रम करो क्योंकि जला हुआ शरीर पुनः वापस नहीं

---

1. भविनां भावयन् दुखं स्वकर्मजमपीश्वरः।,
   स्यादकारण वैरी न कारणादपरे परे।। नै. 17/77
2. यावज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
   भान्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनः कृतः।। स.द.सं.पृ.13
3. यदि गच्छेत परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
   कस्माद् भयो न चायति बन्धु स्नेह समाकुलः।। नै. 17/70

आता है। यज्ञादि करने से मरने के बाद स्वर्ग पाकर देवांगनौसंगम की इच्छा बने रहने के कारण शान्ति वैराग्य कुछ नहीं है।

पाप आदि के संबन्ध में चार्वाक कहता है कि-

"पाप करने से पशु की योनि प्राप्त होती है? इस प्रकार की बातों से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। जल में रहने वाला सांप भी तो अपने आहार-विहार आदि सुख साधनों से राजा की तरह जीवन यापन करता है।[1]"

"चार्वाक दर्शन में वेद वाक्यों तथा विधियों का उपहास करते हुए भांड, धूर्त आदि निशाचरों का वेद का कर्ता माना है।[2]"

महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध में चार्वाक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इसी तरह व्यक्त किया है।-

"यज्ञ कर्ता स्त्री के बरांग के अश्वमेध के घोड़े के शिश्न के संपृष्ट देखकर अपण्डित वह कलि वदे बनाने वाला भाड़ है।"

इस प्रकार उपरोक्त सभी श्लोकों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उनका दर्शन सम्बन्धी ज्ञान महान था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, जैन चार्वाक दर्शन सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन उन्होंने अपने महाकाव्य में किया। सत्रहवें सर्ग में उन्होंने दर्शन सम्बन्धी

---

1. एनसाऽसेन तिर्य्यक स्यादित्यदिः का विभीषिका।
   राजिलोऽ हि राजेव स्वैः सुखी सुख हेतुभिः।। नै. 17/71
2. त्रयोवेदस्य कत्तारो भाण्ड धूर्त निशाचराः। स.द.सं.पृ.13

सभी पहलुओं को चित्रित किया। इस प्रकार हम निष्कर्षतः हम कह सकते कह सकते है कि महाकवि श्री हर्ष एक महान दार्शनिक थे।
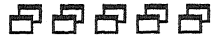
# पंचम-अध्याय

## नैषधीयचरितम् में वेदाङ्ग एवं अन्य शास्त्रों के सन्दर्भ

# वेदाङ्ग

वैदिक साहित्य में उल्लिखित उपनिषद् के अन्तर षड् वेदाङ्ग– शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरूक्त, ज्योतिष एवं कल्प है।

## वेदाङ्ग का अर्थ :

वेदाङ्ग शब्द वेद+अङ्ग दो शब्दों से मिलकर बना है। वेदस्य अङ्गानि अर्थात वेद के अङ्ग। अङ्ग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है कि ''अङ्गयन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अङ्गानि'' अर्थात वे उपकरण तत्व अङ्ग कहलाते है जिनसे किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है। वेदाङ्ग वे साधन या सहायक तन्त्र है जिनके द्वारा वेदों के वास्तविक अर्थो को जानने में सहायता होती है। वेदाङ्ग के द्वारा मंत्रो की व्याख्या एवं यज्ञीय कर्मकाण्ड में उनके विनियोग का बोध होता है।

शुरू में वेदाङ्ग स्वतन्त्र विषय के रूप में स्वीकृत नहीं थे, वे वेदाध्ययन के विशिष्ट प्रकार के रूप में ही मान्य थे। किन्तु पाश्चात्य के कालों में वेदाङ्ग स्वतन्त्र विषय के रूप में विकसित हो स्वीकृत हो गये। इस प्रकार वैदिक सरिता का विस्तार बढ़ने के साथ कर्मकाण्ड की जटिलता एवं दुरूहता ने वेद के अर्थ को और भी दुर्लभ बना दिया। तथा ब्राह्मण साहित्य के तुरन्त बाद से ही एक नये साहित्य का प्रारम्भ हुआ जो वेद के अर्थ को जानने में तथा कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में साहयक सिद्ध हुआ यही साहित्य वेदाङ्ग कहलाया।

मंत्रो के उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञ के अनुष्ठान के लिए कल्प का ज्ञान के लिए शब्दों के निमित्त निरूक्त का

शब्दों के रूप ज्ञान के लिए व्याकरण का, वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिए छन्दों का तथा अनुष्ठानों के उचित काल के निर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग किया गया है। ये सभी वेदाङ्ग सूत्र शैली में लिखे गये है। वैदिक कर्मकाण्ड विनियोग एवं यज्ञविधि आदि के नियम बहुत विस्तृत और व्यापक थे। इसीलिए संक्षेप में स्मरण के लिए इनको सूत्र रूप में स्वीकार किया गया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद के स्वरूप तथा संरक्षण हेतु वेदाङ्ग साहित्य का उदय हुआ। षड् वेदाङ्गों के साहित्य का उदय हुआ। षड् वेदाङ्गों के साहित्यिक विकास की परम्परा प्रकाण्ड पण्डित वेदव्यास के समय से भी पहले देखने को मिलता है क्योंकि तत्कालीन गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा ज्ञान-प्राप्ति और आत्मचिंतन के जो अनेक सम्प्रदाय चले आ रहे थे उन्हीं के द्वारा वैदिक वाङ्गमय की सलिला प्रवाह षड् वेदाङ्गों के रूप में अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। उस समय प्राच्य ऋषियों के आश्रमों द्वारा ही वेद की विकसित शाखाओं और वैदिक साहित्य की अनेक धाराओं में वेदाङ्ग की रचना हुई।

षड् वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव होने के बाद भारतीय साहित्य में एक नये युग की नींव पड़ी। इस नवयुग-खण्ड को उत्तर वैदिक युग के नाम से जाना जाता था। इस युग में प्रकाण्ड विद्वानों के विचार एवं रचना शैली की सृष्टि से एक नये साहित्य सरिता को जन्म दिया।

''पाणिनीय शिक्षा'' में एक श्लोक में रूपक को माध्यम बनाते हुए लिखा गया है-''उस वेद भगवान के शिक्षा नासिका, कल्प-हाथ,

व्याकरण-मुख, निरूक्त-कान, छन्द-पैर तथा ज्योतिष-नेत्र है।[1] इससे श्लोक में यह स्पष्ट हो जाता है सभी षड् वेदाङ्गों का अपना एक विशेष स्थान है।

नैषध महाकाव्य में महाकवि श्रीहर्ष ने भी षड् वेदाङ्गों को विधिवत् समाहित किया है। नैषध के श्लोकों के अध्ययनोपरान्त यह प्रतीत होता है कि जब नैषध महाकाव्य की रचना महाकवि श्री हर्ष ने की उस समय वेदाङ्ग का पूर्ण विकास हो चुहा था। महाकवि श्रीहर्ष ने जहाँ-तहाँ षड् वेदाङ्गों का प्रयोग अपने महाकाव्य में किया है जो कहीं-कहीं स्पष्ट दिखायी पड़ता है। यथा- जिस सरस्वती देवी की साक्षात् शिक्षा चरित्र के रूप में, कल्पशास्त्र अलङ्करण के रूप में तथा निरूक्त शास्त्र अर्थ विवेचन के रूप में परिणत हुआ।[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि श्री हर्ष ने इस श्लोक में जिस सरस्वती का चित्रण किया है उस सरस्वती में सभी वेदाङ्ग विद्यमान थे। षड् वेदाङ्गों में 'शिक्षा' उस देवी का चरित्र 'कल्प' अलङ्करण एवं निरूक्त समस्तार्थ निर्वचन हुए। इससे यह स्पष्ट है कि श्री हर्ष का वेदाङ्गों के विषय में गहन अध्ययन होगा। उन्होंने सरस्वती के रूप में षड् वेदाङ्गों का विधिवत निरूपण किया है। महाकवि श्री हर्ष अपने अद्वितीय ग्रन्थ 'नैषध महाकाव्य' में वेद तथा वेदाङ्गों का विशेष ध्यान

---

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ उच्यते,
   ज्योतिषामयनं चक्षु निरूक्तं श्रैतमुच्यते।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्,
   तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पा0शि0 41, 42
2. शिक्षैव साक्षाचरितं यदीय, कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयं
   यस्या समास्तार्थ निरूक्ति सौनिरूक्त विद्या खलु पर्याणसीत्।।

दिया है, तथा छन्दों का प्रयोग किया है। अनुष्ठानों के लिए उचित काल-निर्णय को भी वर्णित किया गया है इस आधार पर उनके वेदाङ्गों का विषय-ज्ञान प्रमाणित हो जाता है।

अब षडवेदाङ्गों का क्रम से उल्लेख करते हुए नैषध-महाकाव्य में दिये गये उनसे सन्दर्भित तथ्यों का वर्णन किया जा रहा है जो दृष्टव्य है-

**शिक्षा :**

शिक्षा का अर्थ है- "वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा"। इस शिक्षा का वर्णन जिन ग्रन्थों में किया गया है उन्हें भी 'शिक्षा' ही कहा गया है। आचार्य "सायण" ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है- "जिसमें स्वर आदि तथा वर्ण आदि के उच्चारण की रीति सिखलायी जाती है, वह 'शिक्षा' है। स्वर से तात्पर्य यहाँ पर उदात्त आदि स्वरों से है।[1]

तात्पर्य यह है कि जिसमें स्वर वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा कहते है। राजशेखर ने शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार कहा है- "यत्र वर्णानां स्थान प्रकरण प्रयत्नादिभिः निष्पत्ती निर्णयनी शिक्षा अपिशलीयादिका" अर्थात् जिसके द्वारा वर्णो के स्थान, करण, प्रयत्न एवं उच्चारण आदि के निष्पत्ति का निर्ण किया गया है वह शिक्षा है- जैसे- अपिशत्तु, याज्ञवल्क्य, पाणिनी आदि।

'शिक्षा' वेदाङ्ग का अभिर्भाव संहिताओं के प्रति भारतीय विचारकों एवं भारतीयों की आस्तिक बुद्धि का ही परिणाम है। क्योंकि वेदमंत्रों के शुद्ध उच्चारण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जर्मन विद्वान् डॉ0

---

1. स्वर-वर्णधुच्चारण प्रकारों यत्र शिक्ष्यते, उपदिश्यते सा शिक्षा।
 -ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ0-49

विण्टरनिट्ज के अनुसार वेदमंत्रों का संहितापाठ शिक्षा- वेदाङ्ग के नियमें के अनुसार ही किया गया है।

महाकवि श्री हर्ष ने भी 'शिक्षा' के समस्त सिद्धान्तों का वर्णन कुण्डिनपुरी के वर्णन के प्रसङ्ग में किया है- "कुण्डिनपुरी नगरी में बहुत से चित्रावाली परस्पर स्थिति से शोभने वाले नील-पीत श्वेदादि सम्पूर्ण वर्णो (रंगो) को प्राप्त क्यों नही करती।[1] अर्थात् जहाँ ब्राह्मण आदि जातियाँ (अकारादिवर्ण) मर्यादाशील हो वह नगरी चित्रमयी क्यों न हो, जहाँ अनेक मुख शब्द करते हो वहाँ विभिन्न स्वर भेद क्यों न हों?

तात्पर्य यह है कि कुण्डिनपुरी नगरी में समस्त वर्ण ब्राह्मण आदि जातियों नील तथा पीत रङ्ग अथवा अकारादि वर्ण मर्यादित थे। तभी वह नगरी आश्चर्यमयी तथा चित्रमयी थी। जिस नगरी में अनेक मुख शब्द करते है वहाँ विभिन्न स्वर भेद उचित ही है।

शिक्षा में उच्चारण का भी विशेष महत्त्व है। 'पाणिनि' ने इसीलिए उल्लिखित किया है कि "स्वर वर्ण के उच्चारण दोष के कारण मन्त्र अपने वास्तविक अर्थ को प्रकट नहीं करता तथा अर्थ का अनर्थ करता है। और वह वाग्व्रज बनकर उसी प्रकार यजमान का नाश करता है जिस प्रकार वृत्तासुर का हुआ था।[2]"

---

1. स्थिति शालिसमस्त वर्णतां न कथं चित्रमयी विभर्तुया।
   स्वरभेदमुपेतु या कथं कलितान्ल्पमुखा रवा न वा।। -नैषध 2/98
2. मन्त्रहीनों स्वरतो वर्णतो वा,
   मिथ्या प्रयुक्तो न समर्थ माह।
   स वाग्व्रजो न यजमान हिनस्ति,
   यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्।। पा0 शि0 52

इस प्रकार शिक्षा- वेदाङ्ग का सम्बन्ध संहिताओं के संहितापाठ तथा पदपाठ के नियमों से है।

आजकल 'भारद्वाज', 'व्यास', 'वसिष्ठ' तथा 'याज्ञवल्कय' के लघु शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध होते है। इन शिक्षा-ग्रन्थों की रचना भी प्रातिशाख्यों के आधार पर बाद हुई जान पड़ती है। शिक्षा ग्रन्थों में व्यास-शिक्षा का सर्वाधिक महत्व है।

तैत्तिरीय उपनिषद् 1,2 में, शिक्षा- वेदाङ्ग के छः अङ्ग या अध्याय बताये गये है। 1. अक्षर या वर्ण 2. स्वर 3. मात्रा 4.बल 5. साम तथा 6. सन्तान। संस्कृत वर्णमाला में 63 तथा 64 वर्ण है। वेद ज्ञान के लिए वर्णमाला का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में बावन या पचास वर्णो का भी उल्लेख किया है।

स्वर तीन है- उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिए स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। महाकवि श्री हर्ष ने स्वरों के परिचय का ज्ञान देते हुए लिखा है- "सूर्य-किरण-रूपी ऋचाओं के (आरम्भ में उच्चारित होने वाले) ओङ्कारों (ॐ) में स्पष्ट और निर्दोष बिन्दु (अनुस्वार) बनाने के लिए आकाश स्थिति इन तारकों का उच्चयन (संकलन) किया जा रहा है और इन (रूचि-ऋचाओं) के उदात्त होने से ऊपर (उदात्त) स्वर-रचना के निमित्त इस शीतांशु (चन्द्र) के मंडल से किरणें निःसंदेह रूप से ले ली गयी है"।[1] तात्पर्य यह है कि उच्चैरूदान्तः

---

1. रविरूचिऋचामोङ्कारेष स्फुटमलबिन्दुतां,
   गमयितुममूरूच्चीययन्ते विह्वायसि तारकाः।
   स्वरविरचरायासामुच्चैरूदात्ततयाऽऽहृताः,
   शिशिरमहसो बिम्बादस्यादसंशयमंशवः।। नैषध 19/7

पाणिनीयसूत्र (1/2/29) के अनुसार उदान्त नामक स्वर विशेष बनाने के लिए चन्द्रमा के इस बिम्ब (मण्डल) के इन किरणों को किसी ने निश्चय ग्रहण कर लिया है।

आशय यह है कि सूर्य-किरणों के धीरे-धीरे फैलने के कारण प्रकाश बढ़ रहा है। जिससे तारे छिप गये है और चन्द्रमा किरणहीन और निस्तेज हो गया है। यहाँ फैलती सूर्य-किरणों को ऋचा अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्र कहा गया है। जिसका आधार इस श्रुति को माना गया जाता है- ''ऋग्भि पूर्वाण्हे दिवि देव ईयते यजुर्वेद तिष्ठति मध्येऽह्नः। ऋचाओं के पाठ में उनमें पहले ओङ्कार लगाया जाता है, पहले 'ॐ' उच्चरित होता है तत्पाश्चात् शेष ऋचा।

भाव यह है कि तारायें अति सूक्ष्म होती है। अतः कवि ने यहाँ उत्प्रेक्षा के माध्यम से ताराओं के अति सूक्ष्म बिन्दु तुल्य होने के कारण ॐकार में स्थित बिन्दु (अनुस्वार) को बनाने के लिए ताराओं का उपयोग किया है तथा उदात्त स्वर में सदैव खड़ी रेखा खींची जाती है। इसी कारण से तारायें चन्द्र की किरणें दृष्टिगोचर नही हो रही है।

उच्चारण के गुण-दोषों का विवेचन शिक्षा-ग्रन्थों में बहुत ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। 'पाणिनीय-शिक्षा' में अच्छे पाठक के गुण इस प्रकार बतलाये गये है।-

1. माधुर्य 2. वर्णो की स्पष्टता 3. पदों की स्पष्टता 4. सुस्वरता 5. धैर्य धीरता से पढ़ना 6. लयसमर्थता।[1]

---

1. माधुर्यामखरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्य लयसर्मार्ञ्च, षेडेत् पाठकाः गुणाः।। पा० शि० 33

इसके विपरीत अशुद्ध उच्चारण एवं दोष युक्त पाठ करने वाले पाठकों के बारे में बताया गया है।- 1. गाकर पढ़ने वाला 2. जल्दी-जल्दी पढ़ने वाला 3. सिर हिलाते हुए पढ़ने वाला 4. लिखित ग्रन्थ से पढ़ने वाला 5. अर्थ को बिना जाने पढ़ने वाला 6. बहुत धीरे स्वर में पढ़ने वाला।[1]

इस प्रकार 'पाणिनीय शिक्षा' में उच्चारण के गुण एवं दोषों के बारे बताया गया है। शुद्ध उच्चारण के साथ मधुर स्वर से बोलना भी अत्यन्त महत्वपर्णू है। महाकवि श्री हर्ष ने भी इसी तथ्य को संकेत करते हुए नैषध महाकाव्य में उल्लेख किया है- "हे राजन! आप हम देवी के इच्छा के प्रति मधुर स्वर से अहलादित करने वाले धर्मार्थ अपने प्रत्युत्तर को वेद के समान सार्थक कीजिए तथा संसार को पवित्र करने वाली तथा चारों ओर फैलती हुई कीर्ति को बढ़ाइये जो आपकी प्रतिश्रुति है उसे वेद वाक्य का प्रतिद्वंदी करना उचित ही है। वेद वाक्यों का उच्चारण भी यज्ञ की दृष्टि से किया जाता है। उदात्तादि स्वर देवताओं तथा श्रोताओं को आह्लादित करने वाले हुआ करते है।[2]

शिक्षा में शुद्ध उच्चारण का भी अपना एक महत्व है। राजा नल के उपवन में शकों द्वारा स्वरों का शुद्ध उच्चारण होता है। इसी का उल्लेख करते हुए महाकवि श्री हर्ष नैषध में किये है- " उस राजा को

---

1. गीती शीघ्री, शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः।
   अनर्थज्ञोऽल्पकष्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।। पा0शि0 32
2. इष्टं नः प्रति ने प्रतिश्रुतिरभूद्याद्यस्वराहलदिनी,
   धर्माथा सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम्।
   त्वत्कीर्ति पुनती पुरस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद्,
   द्रव्याणां शितिपीलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु।। नै0 5/135

प्रसन्न के लिए भली-भाँति शिक्षित किए हुए चतुर तथा स्पष्ट उच्चारण करने में दक्ष तोतों द्वारा उस राजा (नल) की स्तुति की गयी है। तथा राजा नल के पराक्रम सम्बन्धी गीतों को गाने में समर्थ सारिकाओं ने भी राजा नल के पराक्रम को अपने गायन के माध्यम से प्रस्तुत किया।[1]

शिक्षा-वेदाङ्ग में मधुर भाषण का भी अपना महत्व है स्वर के उच्चारण के साथ ही साथ मधुर बोलना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य का उल्लेख महाकवि श्री हर्ष ने अपने प्रशंसनीय ग्रन्थ नैषधीयचरित में करते हुए लिखा है- "दमयन्ती कहती है। कि अतिथि आने पर उससे मधुर भाषण करना चाहिए। प्रिय भाषण रस धारा से विधि प्राप्त मधुपर्क की वृद्धि करनी चाहिए।" महाकवि श्री हर्ष ने अपने नैषध महाकाव्य में सरस्वती का चित्रण किया है- "जिस सरस्वती का चरित्र शिक्षा शास्त्र के रूप मे विर्णत था।"

उपरोक्त से स्पष्ट है कि शिक्षा-वेदाङ्ग का महाकवि श्री हर्ष को सम्यक् ज्ञान था। इन्होंने अपने इस ज्ञान का सदुपयोग अपने श्लाघनीय महाकाव्य में भलीं-भाँति किया है।

**व्याकरण:**

भारत में व्याकरणशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है। पाणिनी से पूर्व 'आपिशलि', 'गार्ग्य', काश्यप, स्फोटायन, शाकल्य आदि लगभग 50 आचार्यो का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पाणिनी के पश्चात् भी लगभग 15 आचार्य हुए है। वस्तुतः पाणिनी से पूर्व ही हमारे देश में भाषा के अध्ययन की दो धारायें प्रतिष्ठित हो चुकी थी। 1.

1. तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विभुक्ता पटवस्त्रमस्तुवन।
स्वरामृतेनोपगश्च शारिकास्तथैव तत्पौरूषगायनीकृतः।। नै0 1/103

प्रातिशाख्य परम्परा 2. व्याकयरण परम्परा। व्याकरणशास्त्र के प्रणेताओं में वैय्याकरण (i) पाणिनी (ii) कात्यान (iii) पतञ्जलि- ये तीनों 'मुनित्रय' के नाम से जाने जाते है।

भारतीय भाषाविज्ञानी ही नहीं, अपितु विश्वजननी भाषा विज्ञानी भी 'पाणिनि' को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। षड्वेदाङ्गों में व्याकरण भी एक अङ्ग के रूप में स्वीकृत है। इस वेदाङ्ग का उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। जिस शास्त्र के द्वारा पदों की मीमांस की जाती है जिसके द्वारा प्रकृति प्रत्यय का विवेचन किया जाता है वह व्याकरण शास्त्र कहा जाता है। पाणिनीय शिक्षा में व्याकरण को 'मुख' व्याकरण स्मृतं अर्थात् व्याकरण को वेद पुरुष का मुख माना है जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में मुख अभिव्यक्ति का साधन है उसी प्रकार व्याकरण भी पद-पदार्थ एवं वाक्य-वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति का साधन है।

व्याकरण की व्युत्पत्ति है- ''व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है।

व्याकरणशास्त्र के सूक्ष्मरूप का वर्णन युजर्वेद में इस प्रकार है-''प्रजापति ने रूपों में सत्य और अनृत (विस्फोट और ध्वनि) का व्याकरण (विश्लेषण) किया है। उसने असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा की प्रतिष्ठा की है।[1]

---

1. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
   अश्रद्धामनृतेऽदधच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।। युज0 19/77

नैषध महाकाव्य व्याकरणशास्त्र के गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों से परिपूर्ण है। श्रीहर्ष व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान थे। महावैय्याकरण होने से महाकाव्य में जहां-तहां व्याकरण का प्रयोग देखने को मिलता है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के द्वारा अपनी बात सिद्ध की है इस प्रकार नैषध के उन्हीं श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है जहाँ उनका व्याकरण के प्रति प्रेम तथा सूक्ष्म सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। महाकवि श्रीहर्ष ने श्लेष के माध्यम से विभक्तियों में प्रथम विभक्ति तथा राजाओं में राजा नल को प्रथम माना है हंस दमयन्ती के समक्ष राजा नल की प्रशंसा करते हुए कहता है- ''सज्जनों की गणना की जाय तो वह प्रथम ही व्यक्ति राजा नल ही है। जो कि अपने पराक्रम से असंख्य शत्रुओं को करने में समर्थ है। पक्षान्तर में -यदि विभक्तियों पर विचार किया जाय तो प्रथमा विभक्ति होगी जो कि अपने सु और जस रूप एकवचन, द्विवचन और बहुवचन प्रत्ययों से प्रतिपदिकों को सुबन्ध बनाने में सिद्ध होती है।[1] पाणीनि का सूत्र- ''प्रतिपादिकार्थ लिङ्ग और परिमाण मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। 'सुप्तिङतम् पदम्' विधान करता है कि सुब और तिङ् प्रत्ययों से पद की संज्ञा होती है सुब् अर्थात सु, औ, जस्। तात्पर्य यह है कि सातों विभक्तियों में प्रथमा विभक्ति ही है जिसने प्रातिपादिक शब्दों को सिद्ध किया है। उसी प्रकार वह राजा नल भी प्रथम व्यक्ति है जिसने अपने अधीन असंख्य राजाओं को अपने पराक्रम से वश में कर लिया है। यहां पर महाकवि श्रीहर्ष ने राजा नल और प्रथमा विभक्ति की परस्पर तुलना

---

1. क्रियते चेत्साधुविभक्तिचित्ता,  
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।  
या स्वौजसां साधयितुं,  
विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहुस्यात्।। नै0 3/13

की है। श्रीहर्ष ने नैषध में दमयन्ती के सौन्दर्य-प्रसङ्ग में उल्लेख करते हुए कहते है- "ब्रह्मा ने चन्द्रमा के सैकड़ों बिम्बों को नष्ट करके स्थिर कान्ति वाले दमयन्ती के मुखचन्द्र को ही रचा है।"[1] आशय यह है कि असंख्य चन्द्र विम्ब क्षीण कान्ति होने के कारण नष्ट हो जाते है। दमयन्ती की कान्ति कभी नष्ट नहीं होती है इसलिए ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुखचन्द्र को रचा है।

"सरूपाणमेकशेष एक विभक्तौ" (पा0 सू0 1/2/64) से भी समान रूप वाले अनेक का नाश (लोप) होकर एक ही शेष रह जाता है तथा उसी से उन लुप्त का कार्य भी सम्पन्न होता है। उसी प्रकार अविनाशशील काान्ति दमयन्ती के मुख से ही आकाशस्थ अन्य चन्द्रसम्बन्ध कार्य भी सम्पन्न होते है। भाव यह है कि संसार में भी कोई शिल्पी क्षणिक कान्ति वाले तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं को नष्ट करके स्थिर कान्ति वाले केवल एक ही वस्तु का रख लेता है। उसी प्रकार ब्रह्मा ने भी बार-बार क्षीण होने वाले चन्द्र बिम्ब की अपेक्षा सदैव नित्य स्थिर वाले दमयन्ती के मुख की रचना की है जो कि कभी नष्ट होने वाली नहीं है अर्थात् जिसकी कान्ति कभी नष्ट होने वाली नहीं है।

महाकवि श्रीहर्ष ने पाणिनि सूत्र "स्वरितेनाधिकारः (पा0सू0 9/3/11) का प्रयोग भी अपनी रचना में करते हुए लिखा है- इन्द्रादि देव दमयन्ती से कहते है कि मनुष्य देवों की कृपा से ही मनुष्यभाव को छोड़कर देवत्व

---

1. विधिर्विधिर्विम्बशतानि लोपं लोपं कुहुरात्रिषुमासि मासि।
   अभङ्रश्रा कमसुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकरोषम्।। नै0 7/59

को प्राप्त करता है। अतः तुम हम लोगों में से किसी को वरण करके देवी बन जाओगी।[1]"

आशय यह है कि जिस प्रकार औषधि से तैयार किये गये पारस के स्पर्श से जब लोहा, सोना (स्वर्ण) बना जाता है। तब उसे लोहा नहीं कहा जाता है बल्कि उसे स्वर्ण कहा जाता है। उसी प्रकार जब इन्द्रादि देवों में से किसी को वरण कर लोगी तब तुम मानुषी न रहकर देवी बन जाओगी। क्योंकि देवों के अनुग्रह से जब सामान्य मनुष्य भी देव बन जाता है तो तुमकों तो देव अनुराग से चाहते है। इसलिए तुमकों मनुष्य नहीं रहने देंगे बल्कि देवी बना लेंगे।

स्वरितेनाधिकार (9/3/11) इस पाणिनि सूत्र के द्वारा अधिकार का अभाव रहने पर फिर कहीं से अधिकार हो सकता है। इन्द्र कहते है कि इस सूत्र के माध्यम से ही तुम भी अपने मनुष्यत्व के अधिकार को छोड़कर देवत्व के अधिकार को प्राप्त करोगी। इसलिए तुम देवो को वरण करो।

महाकवि श्रीहर्ष व्याकरण को सरस्वती की करधनी के रूप में चित्रित करते हुए नैषध में उल्लेख करते हुए कहते है कि जिसकी साड़ी के (गुण, दीर्घ भाव प्रत्यय और कृत्ययों) विस्तार को धारण करती हुई और शब्द परम्परा, मधुर शब्द (रामपाक) को सिद्ध करने वाली जिस सरस्वती की करधनी- वेदाङ्ग भूत व्याकरण से बनायी गयी थी।[2]"

---

1. अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो,
   निरस्य मनुष्य मेति दिव्यताम्।
   अथोऽधिकारे स्वरितात्वमिप्यते,
   कृतोऽयसां सिद्धरसास्पृशा मापि।। नै० 9/42
2. असंशयं सा गुणदीर्घभाव कृता, दधाना विततिं यदीया।
   विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चाराचि व्याकरणेन काञ्ची।। नै० 10/78

आशय यह है कि देवेन्द्र देवाद्यान आदि पदों से आद्‌गुण (पा0सू0 6/2/87) गुण दैत्यादि- श्रीश: इत्यादि पदों में अक: सवर्णे दीर्घ (पा0सू0 6/1/102) आदि सूत्रों से दीर्घ भूयते इत्यादि पदों में "ल: कर्माणि च भावे चाकर्मकेभ्या: (पा0सू0 3/469) आदि सूत्रों से भाव में प्रत्यय और कर्तव्य तथा करणीय में "तव्यत्तव्यनीयर:" (पा0सू0 3/1/96) आदि सूत्रों से तव्य एवं तव्यत् 'कृत' संज्ञक प्रत्यय व्याकरण अनुसार होते है। व्याकरण ही प्रत्ययों के द्वारा राम आदि शब्दों की सिद्धि करता है। व्याकरण वेदों का मुख माना गया है अत: करधनी का शब्द करना उचित ही है।

व्याकरण में आर्धधातुक प्रत्यय में अस् धातु को भू आदेश हो जाता है। भूतकाल के लुङ्लकार में भी होने वाले वाले अस् धातु को भू आदेश हो जाता है। अस्तेर्भू: (पा0सू0 2/4/52)

महाकवि श्रीहर्ष ने व्याकरण के इसी नियम का श्लेष के माध्यम से काशी के प्रसङ्ग में वर्णन करते हुए लिखते है- "हे दमयन्ती! संसार रूपी समुद्र का जल जन्तु अर्थात् संसारी जीव (पर्वतराज पुत्री) के पति शिवजी की तारक ब्रह्मा के उपदेश में समर्थ उस नगरी (वाराणसी) को पाकर तथा शिवजी के सायुज्य को उस प्रकार प्राप्त करता है जिस प्रकार 'अस' धातु (अस् भुवि: अदादिपरस्मैपद संज्ञक धातु) भूतकाल के कहने में समर्थ अद्यतन विभक्ति (लुङ् लकार) को प्राप्त कर 'भू' भाव अस्तेभू पाठ, पाणिनि सूत्र से भू आदेश को प्राप्त करता है।[1]"

---

1. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां,
   पत्युरेत्य नगरीं नगरराज पुत्रया:।
   भूताभिधानपटुमद्य तनीभवाप्य,
   भीमद्भवे! भवति भाव निवास्ति धातु:।।

अर्थात हे दमयन्ती! जिस प्रकार संसार रूपी समुद्र के जीव काशी नगरी में पार्वती के पति शिवजी के सायुज्य को इस प्रकार प्राप्त करता है जिस प्रकार अस् धातु अनद्यतन भूत अर्थ में (लुङ् लकार) भू आदेश हो जाता है।

आशय यह है कि वाराणसी में शरीर त्याग करने पर जीव को शिवजी श्रेष्ठतारक मंत्र का उपदेश देते है। जिससे वह प्राणी शिवमय हो जाता है। तारक मंत्र में शिव का सायुज्य प्राप्त होता है तथा वह व्यक्ति शिवरूप हो जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में दा तथा धा के समान रूपवादी (दाप आप् के अतिरिक्त) धातुओं की घु संज्ञा होती है। पाणिनी सूत्र दाधाध्वधाप् (पा0 सू0 1/9/20) के अनुसार से होगा। श्रीहर्ष ने प्रभात के वर्णन में कपोत के वाणाी के माध्यम इस सूत्र को कहते हुए उल्लेख किया है- "वह कबूतर जिसका कण्ठ खाडिया घिसने की रज से सफेद हो गया है तथा जो पाणिनीय व्याकरण को पढ़ने वाला है, और दुर्भाग्य से सारा पढ़ा हुआ पाठ भूल गया है। केवल उसे पाणिनीय व्याकरण के सूत्र 'दाधाध्वदाप्' की 'घु' संज्ञा याद रह गयी। अतः प्रातः काल में वह उठकर घु-घु कर रहा है तथा पूर्वजन्म संस्कारों के कारण सिर हिला रहा है।[1]

आशय यह है कि कबूतर की बोली घु-घु ही होती है। अतः कवि ने यह कल्पना की है मानो कबूतर पाणिनीय सूत्र "दाधध्वदाप्" 'घु' संज्ञा

---

1. दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयभवत्कोष्यधीती कपोतः,
   कण्ठे शब्दौ सिद्धिक्षत बहुकाठिनी शेषभूषानुयातः।
   सर्व विस्मृत्य दैवात्स्मृतिभूवसि गतां घोषयन्घो घु संज्ञा,
   प्राक्संस्करेण संप्रत्यपि ध्रुवति शिरः पट्टिका पाठनेन।। नै0 19/61

को घोख रहा है। प्रातः काल में कोई पाठ करना निश्चित ही सफल होता है अतः कबूतर को जो कोई याद है उसी को स्मरण कर रहा है।

व्याकरण में अकारान्त शब्द से इन् तथा ठन् प्रत्यय होता है। इसी तथ्य को महाकवि श्रीहर्ष ने शब्द प्रयोग में व्याकरण शास्त्र से अधिक लोक प्रयोग को महत्व देते हुए उल्लेख किया है- "वास्तव में शब्दों के प्रयोग में व्याकरण लोक प्रयोग का अनुगमन करने वाला होता है परन्तु व्याकरण का लोक प्रयोग अनुगमन नहीं करता है। इसी तथ्य का उल्लेख करते है कि जिस प्रकार शश(खरगोश) चन्द्रमा के पास है तो चन्द्रमा को शशी कहते है परन्तु मृग भी तो चन्द्रमा के पास है तो चन्द्रमा को मृगी क्यों नहीं कहते है।[1]"

आशय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा को शशवाला होने से शशी कहा जाता है उसी प्रकार मृगवाला होने पर मृगी नहीं कहा जाता। अतएव अति व्यक्ति एवं अव्यक्ति दोष आने से व्याकरण मूलक लोक प्रयोग होने का नियम नहीं है। अर्थात लोक प्रयोग का अनुगामी व्याकरण होता है व्याकरण का अनुगामक लोक प्रयोग नहीं होता है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महावैयाकरण के रूप को प्रायः प्रत्येक सर्ग में उद्धृत किया है। नूतन प्रयोगों एवं सिद्धान्तों से यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य के समान ही व्याकरण पर भी उनका असाधारण अधिकार था। कवि के व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिए कदाचित् ही कोई ऐसा श्लोक हो

---

1. भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्प पद प्रयोगाध्वनि लोक एषः।
   शशोयदस्यस्ति शशी ततोऽयमेव मृगोऽस्यस्ति मृगीति नोक्तः।। नै0 22/28

जिसमें उन्होंने किसी सुन्दर, सुघड़ किन्तु नूतन शब्द का प्रयोग न किया हो।

**छन्द :**

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दस् (छन्द) का ठीक ज्ञान अनिवार्य है। इसके लिए छन्दो-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई। इस विषय का अत्यल्प साहित्य उपलब्ध है। वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। वैदिक गद्य भी छन्द-युक्त ही माना जाता है। प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुसार 'छन्द' के बिना वाणी उच्चरित नहीं होती है। अतः वेदार्थ जानने के लिए छन्दोवेदाङ्ग का महत्व है।

यास्क के निरूक्त (7-19) में छन्दस् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'छद्' (ढकना) धातु से प्राप्त होता है- ''छन्दांसि छादनात्'' अर्थात् छन्द भावों को आच्छादित करके समष्टि रूप प्रदान करते है। कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में छन्द दिया है- ''यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'', अर्थात संख्या विशेष में वर्णों की सत्ता छन्द है। प्रत्येक छन्द में वर्णो की संख्या निर्धारित रहती है। मुख्य रूप से वैदिक छन्दों की संख्या सात है- गायत्री, उष्णिक, अनुष्टप, वृहति, जगती, पंक्ति तथा त्रिष्टुप है। शेष इनके अवान्तर भेदों के रूप में है।

महाकवि श्रीहर्ष का सबसे प्रिय छन्द उपजाति कहा जा सकता है। क्योंकि उन्होंने नैषध महाकाव्य में सबसे अधिक उपजाति छन्दों की रचना की है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में 19 छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों के वैविध्य से श्रीहर्ष की तत्सम्बन्धी अभिरूचि स्पष्ट होती है।

नैषध महाकाव्य में प्रयुक्त छन्द इस प्रकार है-उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वियोगिनी, शार्दूलविक्रीडत, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, बसन्ततिलका, स्रग्धरा, पृथ्वी, अचलधृति, तोटक, दोधक आदि है।

श्रीहर्ष ने नैषध में उपजाति छन्द का प्रयोग सात सर्गो में किया है। चार सर्गो में वंशस्थ छन्द का प्रयोग किया है। बारहवें सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है जिसमें बाहुल्य वंशस्थ का ही है। द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वियोगिनी, हरिणी तथा अनुष्टुप नामक छन्दों में से प्रत्येक का प्रयोग एक-एक सर्ग में किया गया है। अचलधृति, तोटक, पृथ्वी, दोधक, छन्दों में तो एक-एक ही श्लोक उपलब्ध है। पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी तथा स्रग्धर में लिखे गये पद्य कुछ अधिक संख्या में प्राप्त होते है।

महाकवि श्रीहर्ष ने वंशस्थ छन्द का प्रयोग करके प्रथम सर्ग को और उत्कृष्ट बना दिया है। मधुरस्य प्रधान अथवा नवरस युक्त 'अमृत' की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करते हुए इस कथा की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है।

**वंशस्थ छन्द का लक्षण :**

**जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।**

जिस छन्द में जगण, तगण, जगण और अन्त में रगण हो उसे वंशस्थ नामक छन्द कहते है। इसके पाद के अन्त में विराम होता है।

**उदाहरण- रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी,**

**नल स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।**

सुवर्ण दण्डैकसितातं पवित्र

ज्वलत्प्रतापावलि कीर्ति मण्डलः।। नै0–1/2

**बसन्ततिलका छन्द का लक्षण :**

**उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौंगः।**

जिस छन्द में तगण, भगण, दो जगण तथा अन्त में दो गुरू हो तो उसे वसन्ततिलका नामक वृत्त कहते है। इसमें आठ और छः अक्षरों के बाद विराम या यति होती है।

**उदाहरण-**

**उतङ्गमङ्गलमदङ्ग निनादभङ्गी सर्वानुवाद विधिबोधित साधुमेघा,**

**सौधस्रज प्लुतपताकतयाऽभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डव पण्डितत्वम्।**

**नै0–11/6**

**स्वगता छन्द का लक्षण :**

**स्वागतेति रनभाद् गुरूयुग्मम्।**

जिस छन्द में रगण, नगण और भगण के बाद में दो गुरू हो उसे स्वागता छन्द कहते है। इसमें पाद के अन्त में यति अथवा विराम होता है।

**उदाहरण-**

**गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेज मुनिना विजगाहे।**

**साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिना तु तपसाऽखिल सिद्धिः।।**

**नै0 5/3**

## द्रुतिविलम्बित छन्द का लक्षण-

**द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।**

जिस छन्द में नगण, दो भगण और अन्त में रगण हो। उसे द्रुतविलम्बित नामक छन्द कहते है। इसके पाद के अन्त में विराम होता है।

महाकवि श्रीहर्ष नैषध में दमयन्ती को काम ज्वर होने के कारण उसका मुख मलिन हो गया है। इसी काम रूपी विरह को द्रुतविलम्बित छन्द में पिरो करके और चमत्कृत ढंग से प्रस्तुत किया है।

**उदाहरण-**

**कुसुमचापजताप समाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।**

**अहरहर्वदभ्यधिकाधिकां रविरूचिग्लापितस्य विधोर्विधाम्।। नै0 4/6**

## उपजाति छन्द का लक्षण :

**अनन्तरोदीरित लक्ष्यभाजौ, पादौयदीयावुपजातयस्ताः।**

जिस छन्द में इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा आपस में मिले रहते है उसे उपजाति छन्द कहते है। अर्थात जिस वृत्त में कुछ पाद इन्द्रवज्रा तथा कुछ पाद उपेन्द्रवज्रा के होते है, उसे उपजाति कहते है।

**उदाहरण-**

**स्वर्गावगाहेममृणलिलीनां नालामृणालाभ्रभुजो भजामः।**

**अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धि कार्य निदानादि गुणानधीते।। नै0 2/17**

श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य में जिन छन्दों का जितनी बार हुआ है उनका सर्ग और श्लोकानुसार क्रम इस प्रकार है।-

वंशस्थ छन्द-1/1-142, 9/1-156, 12/1-26, 31-35, 41-45, 50-56, 60-64, 66-72, 76-80, 86-90, 105, 107, 108, 109, 15/1-81, 16/1-129

उपजाति छन्द- 3/1-124, 6/1-112, 7/1-107, 8/1-104, 10/1-126, 14/1-86, 90-92, 22/1-131

वियोगिनी छन्द- 2/1-101, 22/122

द्रुतविलम्बित छन्द- 4/1-115, 5/134

वसन्ततिलका छन्द- 11/1-128, 13/1-150, 1/144, 3/129, 130, 131, 4/116, 1/12, 110, 22/134-136

शार्दूलविक्रीडित छन्द- 1/145, 2/102, 104, 110, 3/126, 127, 128, 130, 4/122, 123, 5/135, 136, 6/113, 7/109 8/109 9/160, 10/138, 11/130, 12/28-30 36-38, 40 ,48, 56, 65, 74, 81, 83, 84, 91-100, 102-104, 106, 111, 113, 13/55, 14/98, 15/84-93, 16/130, 17/217-219, 18/148, 149, 19/67, 20/160, 161, 21/149, 22/137, 138, 140-142, 145, 147, 149

पुष्पिताग्रा छन्द- 2/103, 4/118-121, 8/107

मालिनी छन्द-2/106-109, 3/134, 135, 10/137, 12/75

स्रग्धरा छन्द- 2/105, 3/132, 5/137, 8/105, 106, 9/158, 159, 11/129, 12/28, 39, 42, 56, 72, 101, 112, 22/139,

शिखरिणी छन्द-12/46, 49, 73, 82, 14/85, 86, 15/83, 22/139, 140

हरिणी छन्द- 19/1-66

अनुष्टुप छन्द- 17/1-220

स्वगता छन्द- 5/1-134

रथोद्धता छन्द- 18/1-147

दोधक छन्द- 1/143

तोटक छन्द- 9/157

पृथ्वी छन्द-19/59

अचलधृति छन्द- 22/146

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि श्रीहर्ष ने छन्दों के चयन में विशेष चतुरता प्रदर्शित की है। महाकवि कालिदास के अतिप्रिय छः छन्दों के अनुपात में भारवि ने बारह छन्दों, माघ ने सोलह छन्दों तथा महाकवि श्री हर्ष ने उन्नीस छन्दों में अपना वैशिष्ट्य दिखाया है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन हो जाना चाहिए। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन किया है। द्वादस सर्ग में वंशस्थ, स्रग्धरा, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडत आदि छन्दों का प्रयोग किया है। द्वाविंश सर्ग में भी भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग किया है जो अनेक छन्द प्रयोग के औचित्य को रेखाङ्कित करता है।

## निरूक्तः

'निरूक्त' का शाब्दिक अर्थ है- व्युत्पत्ति या निर्वचन। इसमें शब्दों के अर्थतत्त्व तथा सम्बंधतत्त्व पर विचार करते हुए यह निश्चय किया जाता है कि किसी शब्द का कोई अर्थ क्यों है? कहा भी गया है-'निर्वचनम् निरूक्तम्' देवताध्याय ब्राह्मण में, दूसरे अर्थ में निर्वचन शब्द का प्रयोग किया गया है।

मनुष्य जब किसी विशेष भाव को किसी विशेष शब्द द्वारा व्यक्त करता है तो उसके मूल में कोई न कोई कारण होता है। उस कारण को खोजना ही, उस शब्द की निरूक्ति या निर्वचन कहलाता है तथा इस निरूक्ति से सम्बन्धित शाखा को ही 'निरूक्त' कहा जाता है।

प्रारम्भ में निरूक्तशास्त्र के दो विषय रहे है-

1. देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना।

2. निवर्चन द्वारा (मंत्रो) शब्दों को स्पष्ट करना।

'शिक्षा' की भाँति ही 'निरूक्त' भी छः वेदाङ्गों में से एक है। 'निरूक्त' का प्राचीन लक्षण दिया है-"निरूक्त की परिधि में ध्वनि, पद तथा अर्थ- इन तीनों का ही विवेचन आ जाता है।[1]"

यह 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्द कोष पर आश्रित है। तथा उसी का व्याख्याग्रन्थ है। इसमें वैदिक मंत्रों की निर्वचनात्मक व्याख्या का सर्वप्रथम स्तुत्यय प्रयास है। इस वेदार्थ-पद्धति को नैरूक्त-पद्धति कहा जाता है। यास्क ने वैदिक देवता-वाचक शब्द अग्नि, इन्द्र, वरूण, सविता आदि

---

1. वर्णागमों वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरूक्तम्।।

को निर्वचनात्मक अर्थ प्रस्तुत किये है- 1. आध्यात्मिक 2. आधिदैविक 3. आधिभौतिक 4. अधियज्ञ।

महाकवि श्रीहर्ष ने अन्यशास्त्रों की भाँति निरूक्त के सैद्धान्तिक पक्षों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि शब्दों की व्याख्या तथा उसके अर्थ के बारे में जहाँ-तहाँ उनकी अवधारणा देखा जा सकता है। महाकवि श्रीहर्ष राजा शब्द पर बल देते है।- ''जिस प्रकार योगी अपने शरीर को योग के बल के द्वारा दूसरे के शरीर में प्रवेश कराता है उसी प्रकार राजा नल ने मणिकों में अपने प्रतिबिम्ब को दिखाते हुए दूसरे नगर में प्रवेश कराया है।[1]''

यहाँ निरूक्त के अनुसार राजा शब्द का अर्थ इस प्रकार है-राजते सः राजा अर्थात जो सुशोभित होता है उसे ही राजा कहते है। अर्थात् शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा राजा का अर्थ स्पष्ट हुआ।

महाकवि श्रीहर्ष ने शाम्बरी शब्द के दो अर्थ प्रयोग में लाते हुए लिखते है-''अनादि सर्ग-परम्परा या चित्रों में प्रत्यक्ष की गयी व 'शम्बर' नामक माया कुशल दैत्य के विजयी कामदेव की माया चतुर रचना बनी हुई है।[2]'' तात्पर्य यह है कि शम्बर नामक दैत्य है उसका अरि अर्थात् कामदेव शम्बरस्य अरिः इति शम्बरारि ऐसा अर्थ है। आचार्य मल्लिनाथ ने अपनी टीका में लिखा है-

**''जितशम्बरस्य मायिनेऽपि मायिनः''**

---

1. भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु।
   पुर परस्य प्रविशन् वियोगी योगीव चित्रं स रराज राजा।। नै0 6/46
2. अनादिसर्गस्त्रजि वानुभूता चित्रेषु व भीमसुता नलेन।
   ततैव यदा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमक्षि दिक्षु।। नै0 6/14

कामस्य शाम्बरी शिल्पं मायासृष्टिः स्यान्यमाया शाम्बरी इत्यमराः। शाम्बरी का अर्थ है माया। कामदेव ने शम्बर नामक दैत्य को जीतकर शाम्बरी नामक माया की रचना की। मल्लिनाथ ने भी श्रीहर्ष के इसी अर्थ को प्रस्तुत किया है।

महाकवि श्रीहर्ष ने न्यायशास्त्र के ज्ञाता गौतम के दो अर्थो को बताते हुए उल्लेख करते है– ''गौतम शब्द के दो अर्थो के द्वारा निरूक्त का प्रतिपादन होता है। गौतम शब्द का पहला अर्थ है– न्यायशास्त्र के प्रणेता गौतम मुनि तथा दूसरा अर्थ है–गोरूप पशु। निरूक्त के अनुसार केवल नाम से ही गौतम (विशिष्ट गोरूप पशु) नहीं है किन्तु अर्थ से गौतम (विशिष्ट गोरूप पशु) है[1]।''

आगे श्रीहर्ष वचनों के माध्यम से निरूक्त का प्रतिपादन करते हुए लिखते है– ''वह ईश्वर वचन मात्र से हम लोगों को कृतार्थ क्यों नहीं करता है। वचन मन के द्वारा ही कोई कार्य सिद्ध हो सकता है।[2]'' महाकवि श्रीहर्ष निरूक्तकार की बातों का अभिप्राय जानते है। इसलिए कहा भी है– ''निर्वचनं रिरूक्त अर्थात् निरूक्तशास्त्र में वचन का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।

आशय यह है कि ईश्वर कोई ऐसा देव होना चाहिए। जो सर्वज्ञ, दयालु और कह देने मात्र से सब कर सकता हो। किन्तु ऐसा है नहीं,

---

1. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम।
   गोतमं तमवेतैव यथा नित्य तथैव सः।। नै0 17/74
2. देवश्चदस्ति सर्वज्ञः करूणाभागबन्ध्यवाक्।
   तत् किं वाग्व्ययः मात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिन ही।। नै0 17/76

क्योंकि यदि ऐसा कोई होता तो अपने भक्त प्रार्थियों को जरा सी जीभ हिलाकर ही मुक्ति दे देता।ऐसा नहीं होता।

श्रीहर्ष ने नैषध महाकाव्य में निरूक्ति शास्त्र का प्रयोग करते हुए "उसके तात्विक सिद्धान्तानुसार निरूक्त शब्द का प्रयोग किया है" (घटपटादि) पदार्थ युक्ति सम्मत अनेक प्रकार की बाधाओं (सामान्य दोष) और विरोधों (ब्रह्म-अद्वैत प्रतिपादक उपनिषद-वाक्यों में वैपरीत्य रूप असामान्य दोषों) के कारण भेदाश्रित (भिन्न) नहीं होते। सो यह (भेद-प्रतीति) तुम्हारी (नारायण की) इच्छा मात्र से प्रकटीभूत घटपटादि भेद युक्त है। - यह तात्विक कथन है।[1]"

आशय यह है कि सांसारिक वस्तुओं- घट-पट, वृक्ष-नदी आदि में विचार करने पर कोई वास्तविक भेद सिद्ध नही होता। ये जो भिन्नता-प्रतीत होती है कि यह नदी है, यह वृक्ष है, यह घड़ा है, यह कपड़ा है वस्तुतः मिथ्या है, द्विचन्द्र प्रतीति के समान है। तात्त्विक वचन 'तत्त्वमसि ही है। तू ब्रह्मा ही सब है। यह जो घट-पटादि रूप में आरोपित भिन्नता प्रतीत होती है, वह नारायण की इच्छा का विलास मात्र है।

महाकवि श्रीहर्ष व्याकरण के अहंकार को तोड़ते हुए लोक प्रयोग पर बल देते हुए लिखते है कि "यह लोक (समाज प्रयोग) में व्याकरणशास्त्र के अभिमान भंग में समर्थ है, क्योंकि इस(चन्द्र) को 'शश' (खरहा)

---

1. वस्तु वास्तु घटते न भिदानां यौक्तनैकविधबाध विरौधैः।
   तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्तद्भेदमेतदिति तत्त्वनिरूक्तिः।। नै0 21/93

इसका है, 'अतएव 'शशी' तो कहा परन्तु इसी प्रकार मृग इसका है अतः 'मृगी' नहीं कहा।[1]''

तात्पर्य यह है कि पद-प्रत्यय आदि का नियम बना कर शब्द-साधना के अभिमानी व्याकरणाचार्य लोक-प्रयोग के नियामक नहीं है। अतः लोक जिस प्रयोग को मान्य कर देता है वही चल जाता है। इस श्लोक में व्याकरण के स्थान पर लोक प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है। चन्द्रमा शश होने के कारण शशी कहलाता है, परन्तु मृग है, किन्तु मृगी नहीं कहलता है। लोक में चन्द्रमा को शशोऽस्यस्ति इति शशी ऐसा कहते है। परन्तु चन्द्रमा को 'मृगोऽस्यस्ति' इति मृगी ऐसा नहीं कहते है।

महाकवि श्रीहर्ष नैषध में निरूक्त के माध्यम से अर्थ की ओर सङ्केत करते हुए 'अशोक' शब्द की सार्थकता पर बल देते हुए उल्लेख करते है- 'न शोकः इति अशोकः' अर्थात् शोक रहित को 'अशोक' कहा जाता है। ऐसे सार्थक नाम को आशा से पास गये हुए, अपनी स्त्रियों की चिन्ता में मग्न पथिकों की तथा अपने नवीन पल्लवों के द्वारा कामदेव के जलते हुए शस्त्र को अपने शरीर पर धारण करते हुए, शरण में आये हुए लोगों के लिए श्रेष्ठ 'अशोक' को राजा नल ने अपने रक्षक के रूप में माना है।[2]''

---

1. भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्प पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
   शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः।। नै0 22/82
2. अशोकमर्थान्वित नाम ताशया गतान्,
   शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान।
   अमन्यनावन्तमिवैष पल्लवैः,
   प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्।। नै0 1/102

आशय यह है कि कवि ने अशोक के वृक्ष को राजा नल के रक्षक के रूप में माना है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि महाकवि श्रीहर्ष निर्वचन पटु होने से शब्दों के प्रयोग में सावधान दिखाई देते है। वर्ण्य विषय को अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाने वाले नये पयार्यो का प्रयोग भी करते हैं। ऐसे प्रयोगों का इनके महाकाव्य में बाहुल्य है। व्युत्पत्ति निमित्तक शब्दों के प्रयोग में इनकी पटुता सिद्ध होती है।

## ज्योतिष:

षड् वेदाङ्गो में ज्योतिष का भी प्रमुख स्थान है। इसे वेद पुरुष का नेत्र कहा जाता है। वैदिक यज्ञों के शुभ मुहूर्त-निर्धारण के लिए 'ज्योतिष' नामक वेदाङ्ग की आवश्यकता पड़ी। वेदाङ्ग ज्योतिष में इसका महत्व बताया गया है कि यह शास्त्र यज्ञों का काल-विधान बताता है। यज्ञ सम्पादन के लिए शुभ समय नितान्त आवश्यक है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदि सभी समय खण्डों के साथ भिन्न-भिन्न वैदिक यज्ञों के विधान की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णो के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में अग्न्याधान का विधान किया गया था। ज्योतिष के इसी महत्व के कारण विद्वानों का यह आग्रह था कि जो ज्योतिष को भली-भांति जानता है वही यज्ञ को यर्थाथ रूप में जानता है।[1]

मलमास, सूर्यग्रहण की स्थिति, सूर्य के दक्षिणायन होने पर वर्षा होना, विभिन्न ऋतुओं का उल्लेख आदि ऐसे ही प्रसङ्ग है। जिनसे ऋषियों का ज्योतिष ज्ञान व्यक्त होता है।

---

1. वेद हि यज्ञार्थमप्रवृत्त: कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञा:।
   तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिष वेद स वेद यज्ञम्।। वेदाङ्ग ज्योतिष श्लोक 03

वेदाङ्ग ज्योतिष नामक एक ज्योतिष का प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त होता है। इसका दो वेदों से सम्बन्ध है।

1. यजुर्वेद से –याजुष ज्योतिष।

2. ऋग्वेद से –आर्च ज्योतिष।

इसके कर्ता-धर्ता आचार्य लगध को माना जाता है।

महाकवि श्री हर्ष भी निश्चित रूप से ज्योतिष के ज्ञान से अछूते नहीं थे। नैषध माहकाव्य में ग्रहों, नक्षत्रों, मासों, और ऋतुओं का विवेचन मिलता है। उससे उनके ज्योतिष ज्ञान का परिचय मिलताहै। सूर्य और चन्द्र की ग्रहों की स्थितियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष ज्योतिष शास्त्र के विविध पहलुओं से भली-भांति परिचित थे।

महाकवि श्री हर्ष श्लेष के द्वारा राजा का वर्णन करते समय ज्योतिष के सिद्धान्त को स्वीकारते हुए वर्णन करते है- ''बुद्धिमान तथा तेजस्वी राजा नल निरन्तर अभ्यास करने वाले काव्य रचयिता तथा व्याकरणज्ञाता कवि एवं पण्डितों के आनन्द पूर्वक समय को व्यतीत करते हुए उसी प्रकार समृद्धि को प्राप्त कर रहे थे। जिस प्रकार बुध और शुक्र ग्रह के समीप रहने के कारण तेजस्वी सूर्य को प्राप्त होता है।[1]''

आशय यह है कि जिस प्रकार सूर्य बुध और शुक्र ग्रहों के साथ रहते हुए प्रतिदिन उदित होता है उसी प्रकार राजा नल भी कवि और विद्वानों

---

1. अजस्त्रमभ्या समुपेयुषासम मुदैव देवः कविना बुधेनच।
   दधौ पटीयान समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरूदय दिने दिने।। नै0 1/17

के साथ रहकर प्रसन्नतापूर्वक समय व्यतीत करते हुए उन्नति को प्राप्त करता है।

ज्योतिषशास्त्र में धूमकेतु का होना विपत्ति कारक माना जाता है। महाकवि श्रीहर्ष इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए राजा नल की विरह अवस्था का नैषध में वर्णन करते हुए उल्लेख करते है- "जिस प्रकार आकाश में धूमकेतु तारे का उदय होना अनिष्ट कारक माना जाता है। उसी प्रकार चम्पा की कली कामोद्दीपक होने के कारण विरही जनों के लिए अनिष्टकारक सिद्ध होती है।[1]"

तात्यपर्य यह है कि महाकवि श्री हर्ष ने यह कल्पना की है कि विरहवस्था में स्थिति राजा नल के लिए चम्पा की कलियां साक्षात् धूमकेतु के समान हो गई।

प्रत्येक माह की अमावस्या की तिथि को चन्द्रमा सूर्य के साथ रहता ही है। इसी तथ्य को ध्यान देते हुए महाकवि श्रीहर्ष राजा नल की विरहावस्था का वर्णन करते हुए कहते है- "चन्द्रमा जो प्रतिमास सूर्य के पास जाता है वह सूर्य की सङ्गति से प्राप्त अत्यन्त तीक्ष्ण तथा धैर्य को नष्ट करने वाले किरणों से मुझे सन्तप्त कर रहा है क्यों?[2]"

कहने का आशय यह है कि चन्द्रमा की किरणें शान्त होने पर भी विरही लोगों को जलाती है। यदि उसमें सूर्य की तीक्ष्ण किरणों का

---

1. अलिस्त्रजां कुड्मलमुञ्जशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरय दृशा।
   स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्किन्त मानशङ्कत।। नै0 1/91
2. प्रतिमासमसौ निशाकरः खग! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्।
   किमु तीव्र तरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः।। नै0 2/58

समावेश हो जाय तो और भी जलायेगी तथा विरहियों को और संतप्त करेगी।

महाकवि श्रीहर्ष नैषध में ज्योतिष का प्रतिपादन करते हुए उल्लेख करते है कि "जिस प्रकार गणितशास्त्र में जितने परिणाम से मनुष्य देवताओं तथा ब्रह्मा का युग होता है। उसी (मनुष्य देवो तथा ब्रह्मा) के युग के समान संयोगी तथा वियोगी की एक क्षण की गणना ज्योतिषशास्त्र में कभी नहीं की गई है।[1]"

तात्पर्य यह है कि दमयन्ती विरह वेदना से अत्यन्त व्याकुल है और वह कहती है कि संयोगियों का एक क्षण वियोगियों के लिए एक युग के समान होता है।

ज्योतिषशास्त्र में क्षीण चन्द्रमा को पापग्रह तथा पूर्ण चन्द्रमा को शुभग्रह माना जाता है। महाकवि श्रीहर्ष ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दमयन्ती की विरहावस्था के वर्णन में उल्लेख करते है- "हे सखि! वियोगियों के समूह में वध करने में लगे हुए इस चन्द्रमा को पापी समझो। देवताओं के द्वारा इसका अमृत पी लिया गया है अतः इस कारण यह क्षीण हो गया है। अतः इसे शुभ ग्रह समझो। इस पर ज्योतिषयों का सिद्धान्त विपरीत क्यों है?[2]"

आशय यह है कि विरहावस्था में पूर्णकलाओं से युक्त चन्द्रमा (अधिक सन्ताप देने के कारण) पाप ग्रह माना जाता है तथा क्षीण कान्ति

---

1. नारसुराब्जभुवामिवयावताभवति यस्य युगं यद नेहसां।
   विरहिणामपि तद्रवद्युवक्षणमित न कथं गणितागमे।। नै0 4/44
2. विरहिवर्गवधव्यसनाकूल कलयपापमशेषकलं विधुम।
   सुरनिपीतसुधाकमयापकं ग्रहविदोविपरीतकथाः कथम्।। नै0 4/62

वाला ताप न देने के कारण शुभ ग्रह माना जाता है। ज्योतिष शास्त्र में पूर्ण चन्द्र को शुभ ग्रह तथा क्षीण चन्द्र को पाप ग्रह मानते है। अतः दमयन्ती के विचार से ज्योतिष शास्त्र का यह नियम बिल्कुल विपरीत है।

यात्रा वर्णन के प्रसङ्ग में ज्योतिषशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि चित्रा तथा स्वाती नक्षत्र में यात्रा करने वाले मनुष्य न सुख को प्राप्त करते है और न ही सकुशल वापस ही लौटते है। महाकवि श्रीहर्ष ने इसी सिद्धान्त को दर्शाते हुए उल्लेख कर रहे है-"हे दमयन्ती! सायंकाल में जो दिशा (पश्चिम) अपने शरीर में कुङ्कुम आदि का लेपन करती है, उसी के पति अर्थात् वरूण (वरूणः) ने तुम्हारे लिए मन को उस समय भेजा जब एक बार गया हुआ व्यक्ति कभी वापस नहीं लौटता है।[1]"

आशय यह है कि ज्योतिषीय सिद्धान्तानुसार चित्रा और स्वाती नक्षत्र में यात्रा करने वाला मनुष्य कभी वापस नहीं आता है। इस श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि महाकवि श्रीहर्ष को नक्षत्रों का भरपूर ज्ञान था।

जन्मकुण्डली बनाते समय ज्योतिष द्वारा जन्मकालीन शुभाष्टक वर्ग लिखना ज्योतिषशास्त्र में वर्णित है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए शुभाष्टक वर्ग रूप दमयन्ती के अधरों पर आठ रेखाओं का वर्णन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष लिखते है- "हे दमयन्ती! तुम्हारे लाल अधर पर जिसे कामदेव ने शुभ अष्ट वर्ग लिखा है। वही अधर मेरे दन्तक्षत समूह द्वारा रंगने से बिम्बवल के समान लाल वह अधार भूर्जपत्र बने।[2]"

---

1. यस्तन्विभर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भवन्न कौतिकन्याः।
   तदा स चेतः प्राणिधाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः।। नै0 8/10
2. शुभाष्टकवर्गस्तवदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया।
   मदीयदन्तक्षतरजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलाः।। नै0 19/117

ज्योतिषशास्त्र में वर-वधू के जन्मराशि नाम के प्रथमाक्षर के आधार पर गणना करने पर ही विवाह योग्य होता है। इसी सिद्धान्त की ओर इंगित करते हुए महाकवि श्रीहर्ष नल और दमयन्ती के गोत्रादि की अनुकूलता को कहते है- "नल तथा दमयन्ती के गोत्र की अनुकूलता के कारण होने वाले विवाह में गोत्रशत्रु (इन्द्र) के प्रवर की सहायक आगे किया क्योंकि समान गोत्र अथवा प्रकार होने पर वर-वधू का विवाह नहीं होता है।[1]"

आशय यह है कि इन्द्र राजा नल और दमयन्ती के विवाह के विरूद्ध था। इसलिए उसने प्रवर को सहायक के रूप में आगे किया। लग्न मुहूर्त गुणों से युक्त तथा ग्रहों के उदय तथा अस्त दोषों से रहित होना चाहिए।

ज्योतिषशास्त्र में ध्रुवतारा अत्यन्त सूक्ष्म होने पर इसके प्रमाण को बहुत बड़ा कहा गया है। महाकवि श्रीहर्ष ने भी नल-दमयन्ती के विवाह की एक विधि में इसी ध्रुवतारे का वर्णन किया है- "राजा नल दमयन्ती से कहते है कि ध्रुव नक्षत्र-दर्शन के निमित्त उस (नक्षत्र) की ओर भृकुटि उठाये पति (नल) ने आज्ञा देकर विदर्भजा (दमयन्ती) से (ध्रुवदर्शन) के लिए कहा- क्याा इसका क्षुद्रपरिणाम नेत्र गोचर नही है? तो भी इस विषय में वेदोक्ति गौरव ही उचित है।[2]"

---

1. गोत्रानुकूल्यप्रभवे विवाहतत्प्रतिकूलयादिव गोत्रशत्रुः।
   पुरश्चकार प्रवरं वरं यमाय न सखायं ददृशातया सः।। नै० 14/51
2. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा।
   किमस्य न स्यादणिमाऽक्षिसाक्षिकस्तथाऽपि तथ्यो महिमाऽगमोदित।। नै० 16/38

आशय यह है कि यद्यपि ध्रुव को स्वयं दमयन्ती भी देख सकती थी, फिर भी नल के आगमोक्त पद्धति को प्रमाण बताते हुए, दमयन्ती को ध्रुव-दर्शन के विषय में आदेश देते है- ध्रुव को देखो! वर ऐसा आदेश देता है। उत्तर दिशा में दर्शन करती वधू कहती है ध्रुव-दर्शन कर रही हूँ। ध्रुव महापरिमाण है, भले ही उसकी अणिमा अक्षिसाक्षिक हो, वह छोटा दीखता हो।

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट होता है कि महाकवि श्रीहर्ष को ज्योतिष का प्रर्याप्त ज्ञान था। जिसका उल्लेख वे अपने नैषध महाकाव्य में यत्र-तत्र प्रयोग करके अपने ज्योतिषय ज्ञान की पटुता को प्रमाणित किया है।

**कल्प :**

वेदाङ्गों में कल्पसूत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। कल्प वेद पुरुष के हाथ माने जाते है। कल्प का अर्थ है- यज्ञीय विधियों का समर्थन और प्रतिपादन।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- ''कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति। तथा कल्प की दूसरी व्याख्या है- ''कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्'' अर्थात जिसमें वैदिक कर्मो का व्यवस्थित रूप से वर्णन या प्रतिपादन होता है। राजशेखर ने 'कल्पे मन्त्र विनियोगः वर्णितः'' अर्थात् कल्प में मंत्रों का विनियोग उचित है।

महाकवि श्रीहर्ष सम्भवतः उपर्युक्त कथनों से सहमत होकर ही अपने नैषध महाकाव्य में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। जैसे-इन्द्रयाग, राजसूय, अग्निष्टोम आदि।

महाकवि श्री हर्ष वैदिक स्वरों की विशेषता से भली-भांति परिचित थे। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए कहते है- ''सूर्य-किरणों रूपी ऋचाओं के ओङ्रों में स्पष्ट निर्मल बिन्दुत्व को प्राप्त करने के लिए अर्थात् ॐ में अनुस्वार लगाने के लिए इन ताराओं को कोई एकत्रित कर रहा है।[1]''

तात्पर्य यह है कि तारागण अत्यांत सूक्ष्म होने के कारण ॐ कारक ऊपर अनुस्वार लगाने के लिए तथा किरणों के सूक्ष्म रेखा रूप होने के कारण ऋचाओं के ऊपर उदान्त स्वर विशेष चिह्न लगाने के लिए प्रयुक्त किया है। इससे यही स्पष्ट है कि उन्हें वैदिक स्वरों का ज्ञान था।

किन-किन यज्ञों द्वारा किन वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इसी का उल्लेख करते हुए कहते है- ''पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा पुत्र प्राप्ति, श्येन यज्ञ द्वारा शत्रुओं का नाश तथा करीरी यज्ञ वर्षा के लिए किया जाता है। तथा इसका प्रत्यक्ष फल भी प्राप्त होता है।[2]''

आशय यह है कि इन यज्ञों की उपयोगिता अब तो उनकी समझ में आ जानी चाहिए और इन यज्ञों का फल प्रत्यक्ष देखकर, उनका सन्देह मिट जाना चाहिए। जैसे-सूर्य द्वारा उदयकाल में उसके ग्रासार्थ आक्रमणकारी साढ़े तीन करोड़ 'मंदेह' राक्षस नष्ट हो जाते है।

---

1. रवि रूचि ऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां,
   गामयितुममूरूच्चीयन्ते विहायसि तारकाः।
   स्वरविरचनाय सामुच्चैरूदात्त तयाऽऽहलदताः,
   शिशिरमहसो बिम्बादस्याद संशयमंशवः।। नै0 16/6
2. पुत्रष्टिश्येनकरीरी-मुखा दृष्टफला मखाः।
   न वः किं धर्मसन्देह-मन्देहजयभानवः।। नै0 17/93

महाकवि श्रीहर्ष ने अग्निष्टोम पौर्णमास सोम आदि यज्ञों का भी अपने महाकाव्य में वर्णन किया है- ''अर्थात् वह (कलि) दर्श-याग के दर्शन से अत्यन्त व्यथित हुआ, पौर्णमास यज्ञ देख घूम गया और सोमयाग को तो उसने मृत्यु ही माना।[1]''

आशय यह है कि पहले व्यक्ति को ज्वरदि से कष्ट होता है, फिर ज्वर बढ़ने पर मूर्च्छा और फिर उसके बाद मृत्यु ही आ जाती है। ऐसा ही कलि के साथ हुआ।

**कल्प सूत्रों के भेद:**

इनको चार भागों में विभक्त किया गया है।-

1. श्रौत सूत्र 2. गृह्य सूत्र 3. धर्म-सूत्र 4. शुल्ब-सूत्र।

**श्रौत-सूत्र:**

श्रौत सूत्र में महत्वपूर्ण वैदिक यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यज्ञों में प्रमुख ये हैं- दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वापपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेघ आदि।

महाकवि श्रीहर्ष अपने नैषध महाकाव्य में श्रौतसूत्रों का विधान करते हुए यज्ञों की चर्चा करते है- ''वहाँ (राजधानी में) उस (कलि) की नाक यज्ञ में आहुत आज्य (धृत तथा अन्य सुगन्धित सामग्री) की गन्ध से जैसे नाश को प्राप्त हो गयी, वह (कलि) यज्ञ के धुएँ से पीड़ित नेत्र न खोल सका।[2]''

---

1. दर्शस्य दर्शनात् कष्टमग्निष्टोमस्य चानशे।
   जुघूर्णे पौर्णमासेक्षी सौमं सोऽमन्यतान्तकम्।। नै0 17/193
2. तस्य होमाज्यगन्धेन नासा नाशमिवागमत्।
   तत्रातत दृशौ नासौ क्रतुधूमकदर्थिते।। नै0 17/163

तात्पर्य यह है कि यज्ञ के हवन की सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त थी। तथा यज्ञ का धुआं सम्पूर्ण दिशाओं में दिखाई पडता था।

श्रौत सूत्रों में दक्षिण, आह्वनीय तथा गार्हपत्य इन तीनों अग्नियों की स्थापना का भी विधान है। इसी तथ्य को महाकवि श्री हर्ष अग्निहोत्र में उल्लेख करते है- ''राजा नल यह विचार किया कि त्रेता युग भी काल तथा द्वापर युग के समान मेरा शत्रु न हो जाये इसलिए राजा नल ने अग्निहोत्र में गार्हपत्य आह्वीयन तथा दक्षिणाग्नि को तुष्ट किया। अग्नित्रय को अग्निहोत्र कर्म में हवन द्वारा तुष्ट नहीं करने पर नित्यनुष्ठान जन्य प्रत्यवाय होने के भय से नल ने 'त्रेता' (अग्नित्रय) को हवन करके संतुष्ट किया।[1]''

आशय यह है कि जैसे चतुर्थ (कलि) और तृतीय (द्वापर) युग राजा नल के शत्रु है, वैसे ही द्वितीय युग (त्रेता) भी उसका शत्रु न हो जाय, इस विचार से नल ने अग्नित्रय-रूप 'त्रेता' को अराधना द्वारा पूर्ण संतुष्ट किया।

गृह्यसूत्रों में 16 संस्कारों, 5 महायज्ञों, 7 पाक-यज्ञों, गृहनिर्माण, गृह-प्रवेश, पशु-पालन, रोगनाशक, विधियों आदि का वर्णन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गृहस्थ जीवन से ही सम्बद्ध सभी संस्कारों और विधियों का इनमें वर्णन है। महाकवि श्रीहर्ष ने गृह्यसूत्रों में होने वाले विवाह आदि संस्कारों का वर्णन किया है।

---

1. ममासावपि मा सम्भूत् कलिद्वापरवत् परः।
   इतीव नित्यसत्रे तां स त्रेतां पर्यतूतुषत्।। नै० 20/10

विवाह की विधियों में मधुपर्क, लाजाहोम, ध्रुवदर्शन आदि विधियों का उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती और राजा नल के विवाह के अवसर पर करते है- "राजा नल ने (भीमराज द्वारा) समर्पित मधुपर्क का जो आस्वादन किया, उसने विवाहोत्तर परिणाम देखने वालों में यह तर्क उत्पन्न करा दिया कि यह (नल) को भीमसुता (दमयन्ती) के अधर-मधु का (भविष्य में) पान करेगा, उस काल में इस समय मधुपर्क के व्याज से उसका मङ्गलोपक्रम कर लिया।[1]"

तात्पर्य यह है कि विधान के अनुसार भीमराज के पक्ष से वर नल को कास्यपात्र में दही और मधु का मिश्रपेय समर्पित किया गया, जिसका नल ने पान किया। उसे देखकर दर्शकों ने यह तर्क किया कि विवाहोपरान्त दमयन्ती के अधर-मधु-पान का महत्वपूर्ण कर्म जो नल करेगा। शुभनक्षत्र में मङ्गलकृत्य हो गया।

महाकवि श्रीहर्ष आश्रमों के कर्त्तव्यों के बारे में भी उल्लेख किया है। वे इसके अन्तर्गत आने वाले गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ बताते है। नैषध महाकाव्य में गृहस्थ आश्रम में रत दमयन्ती कहती है- "जिस प्रकार सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है। उसी प्रकार सभी देशों में भारतवर्ष श्रेष्ठ है। उसी भारतवर्ष में रहकर पति की सेवा करके अपना धर्म अर्जित करना चाहती हूँ।[2]"

---

1. असिस्वदधनमधुपक्रमर्पित स तद्व्यधात्तर्कमुदर्कदर्शिनाम्।
   यदेषपास्यन्मधु भीमजाऽधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदाऽकरोत्।। नै0 16/3
2. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
   तत्रास्मि पत्यूर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मोरित धर्मलिप्सुः।। नै0 1/17

महाकवि श्रीहर्ष राजनीति की बारे में चर्चा करते हुए कहते है- ''वह राजा नल अमित्रज्जित् (शत्रुओं को जीतने वाले) होकर भी मित्रजित् ( मित्रों को जीतने वाले) (विरोध परिहार के पक्ष में) अपने प्रताप के बल पर सूर्य को भी जीत तेजस्वी वाले थे। इस प्रकार राजा सूर्य के समान तेजस्वी तथा गुप्तचरों द्वारा देखने वाला था। इस कारण शत्रुओं ने राजा नल के भय के कारण आपस में फूट डालने की क्रिया छोड़ दी थी।''

अतः कवि यह कहता है कि शत्रु राजाओं के सदृश विरोधी धर्मो (स्वभावों) ने भी उस राजा नल के भय के कारण भेद-भाव को छोड़ दिया था क्योंकि उसके अन्दर प्रतीत होने वाले धर्म भी एक साथ रहा करते थे। वह राजा नल मित्रजित होते हुए भी 'अमित्रजित्' तथा 'विचारदृक' होते हुए भी ''चारदृक'' था।

इस प्रकार हम महाकवि श्रीहर्ष के यज्ञ के वर्णन के विवेचन के आधार पर कह सकते है कि उन्हें कल्प का भली-भांति ज्ञान था। उन्होंने वैदिक धर्म, यज्ञीय विधियों, मानव कर्त्तव्यों, धार्मिक विधानों, राजनैतिक कर्त्तव्यों तथा राजधर्म और प्रजाधर्म का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

**आयुर्वेद शास्त्रः**

आयुर्वेद शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के स्वास्थ्य से है। आधुनिक अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के विकास के पूर्व भारत में आयुर्वेदिक विधि से उपचार होता था। श्रीहर्ष द्वारा नैषध महाकाव्य में प्रयुक्त श्लोंको से यह स्पष्ट होता है कि वे आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को सम्यक् रूप से जानते थे।

आयुर्वेद प्रतिपादित लक्षण के अनुसार कुछ रोग ऐसे होते है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के शरीर में संक्रमित कर जाते है उन्हें संक्रामक रोग कहते है। नैषध महाकाव्य में दमयन्ती के समक्ष नल की कामदशाओं के वर्णन के प्रसङ्ग में त्रपानारा का वर्णन करते हुए हंस आयुर्वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करते हुए कहता है- "संक्रामक रोग की तरह लज्जाशील उस राजा नल की भयंकर लज्जा निदान में मौन धारण करने के कारण घोर काम ज्वर की चिकित्सा करने वाले अनुभवी वैद्यों के समूह में प्रवेश कर गयी।[1]"

तात्पर्य यह है कि जब राजा नल लज्जावश चुप है तो वैद्य भी उनकी बीमारी पहचान नहीं पा रहे है क्योंकि रोगी जब स्पष्ट शब्दों में अपनी दशा बताता है। तभी वैद्य निदान करने में सफल होगा।

जब राजा नल लज्जा से मौन है तो वैद्य भी मौन है। या राजा नल की लज्जा वैद्यों में समा गयी है। इसी को कवि कहता है कि राजा नल की लज्जा वैद्यों मे घुस गयी है। इसीलिए लज्जा यहाँ संक्रामक रोग की तरह वर्णित है। संक्रामक रोग पुराने रोगी को छोड़कर नये रोगी में प्रवेश कर जाता है। इसीलिए राजा नल की लज्जा वैद्यों में घुस गयी अर्थात् रोग का सही निदान न कर सकने के कारण लजा गये है।

मूर्च्छा आने पर रोगी के ऊपर जल छिड़कना ही उसके शान्ति का एक उपाय है। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष कहते है- "जिस भांति मुर्च्छित हुए व्यक्ति के मुख आदि पर जल छिड़क कर उसकी मुर्च्छा को दूर किया जाता है उसी भांति 'हमारी याचना निष्फल न हो

---

1. स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णस्सिद्धागङ्करचये चिकित्सौ।
   निदानमौनादविशब्दिशाला साङ्क्रामिकी तस्यरूजेव लज्जा।। नै0 3/11

जाय' इस प्रकार के संशय से उत्पन्न भय के कारण आने वाली मूर्च्छा को चिकित्सा दान देते समय याचक व्यक्ति के हाथ पर दिया गया जल ही हुआ करती है।[1]''

आशय यह है कि संकल्प समबन्धी जल के हाथ में आते ही मांगने वाले व्यक्ति को अपनी याचना के सफल होने का विश्वास हो जाता है।

नैषध महाकाव्य में श्रीहर्ष ने प्रसिद्ध महौषधि के बारे में उल्लेख करते हुए वर्णन करते है- ''जिस प्रकार कोई व्यक्ति सिद्ध महौषधि की गांठ को मुख में डाल लेता है तो उसे बिल से निकला हुआ कुटिल चलने वाला सांप नहीं डसता। उसी प्रकार जो राजा लोग युद्ध में शस्त्र त्यागकर मुख में अङ्गुली डालकर इस राजा के शरण में नहीं आते उन्हीं को यह म्यान से निकाले हुए उत्तम लोहा होने से चमकते हुए श्याम वर्ण वाले हिलते हुए तलवार से मारता है।[2]'' यह राजा सङ्ग्राम में लड़ने वाले शत्रुओं को खड्ग से मारने वाला तथा शस्त्र त्यागकर मुख में अङ्गुली डाल कर के शरण में आये हुए शत्रुओं की रक्षा करता है।

तात्पर्य यह है कि निषधेश उन शत्रुओं का अपने सर्परूप कृपाण से नाश कर देता है। जो शस्त्र त्याग कर दीनतापूर्वक मुँह में अंगलि दबा शरणागत नहीं हो जाता। इस आधार पर अंगुलिरूप सिद्धौषधिलता के पर्व

---

1. यत्प्रदेयमपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।
   याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सतमेतत्।। नै0 5/85
2. अस्यसिर्भुजगः स्वकोशविवराकृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा
   कम्पोन्मीलदराललीलबलनस्तेषां भिये भूभुजाम्।
   सङ्ग्रामेषु निजाङ्गलीमयमहासिद्धौषधीवीरूधः,
   पर्वास्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकतायैर्नमि नालम्बिता।। नै0 12/96

को मुख में रखने की क्रिया के द्वारा शरणागत और विषवैधता दोनों स्थितियों की समानता बनायी गयी। शरणेच्छुक मुख में अंगुलि रख दीनभाव प्रकट करता है, विषवैद्य लता की गांठ मुख में रखकर सर्प का सामना करता है।

आयुर्वेद शास्त्र में मूर्च्छा शान्ति के लिए विशल्या नामक औषधि का प्रयोग किया जाता है। इसी तथ्य को दर्शाते हुए नैषध महाकाव्य में श्रीहर्ष ने दमयन्ती के रूप में विशाल्या नामक औषधि के प्रयोग का वर्णन किया- ''इन्द्रादि चारों देवगण विरह रूपी मूर्च्छा में दमयन्ती रूपी विशल्या की दूत नल द्वारा याचना करते है। इन्द्रादि देवों ने गाढ़ालिङ्गन पूर्वक तुम्हें यह संदेश भेजा है। सुंदरि कामदेव के पाँचो बाणों से मूर्च्छित हम लोगों के लिए तुम विशल्या नामक औषधि बनी। और सभी देवगण को वरण करके हमारी कामरूपी पीड़ा को हरण करो।[1]''

श्रीहर्ष पुनः एक बार दमयन्ती की मूर्च्छा का उल्लेख करते है- ''वह दमयन्ती कामदेव के वाण रूपी फूकों के मधु से मिले सुगधिंत तथा अत्यन्त मीठे राजा नल के इन हंस के वचन रूपी घी को पीकर भी तृप्त नही हुई बल्कि अधिक मुर्च्छित सी हो गयी।

तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद के अनुसार बराबर मात्रा में मिला हुआ घी भी विष हो जाता है।

दूसरा अर्थ (नारायणी टीकानुसार) इस प्रकार है- ''दमयन्ती को मधु मिला घी खाने से अधिक ताप हुआ और मूर्च्छा भी उत्पन्न हो गयी वह

---

1. एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तमोपपीडं त्वयि सन्दिशंति।
   त्वं मूर्च्छायान्नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्योषधिवल्लिरेधि।। नै0 8/10

दमयन्ती हंस के मधुर वचनों को और सुनना चाहती थी। परन्तु बीच में ही बात कट जाने से असन्तुष्ट हो गयी और वहाँ उसके चले जाने के बाद मोह में पड़ गयी।[1]"

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाकवि श्रीहर्ष आयुर्वेदशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने पद्यों में सैद्धान्तिक आयुर्वेद का प्रतिपादन किया है। उनको जड़ी-बूटियों के विषय में अच्छा ज्ञान नहीं था। उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अधिकांश रोगों के पहचान एवं उपचार से श्रीहर्ष भली-भांति परिचित थे।

**संगीत शास्त्र:**

सम् उपसर्ग पूर्वक गीत शब्द से संगीत शब्द बनता है। अच्छे ढंग से गाया हुआ गीत ही संगीत कहलाता है। जो श्रवण प्रिय हो। संगीत के तीन भाग होते है। ताल, वाद्य तथा नृत्य को ही संगीत की संज्ञा दी जाती है। महाकवि श्रीहर्ष संगीत के अच्छे ज्ञाता है। नैषध महाकाव्य में उन्होंने संगीत के बहुत उदाहरण दिये है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को इस शास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

इसी सन्दर्भ में महाकवि नैषध में वर्णन करते हुए उल्लख किये है कि "उस वन में क्रीड़ा सम्बन्धी बावड़ी के किनारे पर तरङ्गो के बजाने से कोयलों तथा भ्रमरों के गान से और मयूरों के नृत्य करने से, उस राजा नल की वादन, गायन तथा नर्तन रूप में संगीत ने सेवा की।[2]"

---

1. चेतोजन्मशरप्रसून मधुभिर्ज्यामिश्रिता माश्रयत्,
   प्रेयोदूतपतङ्ग पुङ्गवगवी हैयङ्गवीनं रसात्।
   स्वादंस्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्ति न सा,
   तापं प्राप नितान्तमन्तर तुलामानर्च्छ मूर्च्छाऽपि।। नै0 2/30
2. विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीते: शिखिलास्यलाघवात्।
   वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराघ तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः।। नै0 1/102

आशय यह है कि राजा नल भी संगीत कला का उच्चकोटि का प्रेमी था। और वह संगीत सभाओं आदि के माध्यम से संगीत का श्रवणादि करता था।

श्रीहर्ष मैनाओं के द्वारा राजा नल की गान की स्तुति करते हुए नैषध महाकाव्य में उल्लेख करते है- "उन वन में अभ्यस्त शुकों ने राजा नल की स्तुति की तथा सारिकाओं ने जो कि गायन करने में निपुण है उन्होंने राजा नल के पराक्रम का अमृत-तुल्य मधुर वचनों से गायन किया।[1]"

संगीत में स्वर सात होते है- स, रे, ग, म, प, ध, नि इन्हीं सातों के आरोह-अवरोह क्रम को मूर्च्छना कहते है। नैषध महाकाव्य में भी ऐसी मूर्च्छना का प्रयोग राजा नल के पराक्रम के वर्णन में किया गया है- "राजा नल ने मिथ्या रूप में देखी गयी दमयन्ती को कह दिया अये न। उसकी कैसे छुपाये संयोगवश उसी समय वीणा बजाने वालो द्वारा पञ्चम राग के गाने पर सारी सभा मन्त्रमुग्ध हो गयी, कोई कुछ भी न जान सका।[2]"

तात्पर्य यह है कि जब राजा ने मोहवश दमयन्ती को देखा तो मूर्च्छित हो गये। परन्तु लोगों ने समझा राजा नल पञ्चम स्वर सम्बन्धी मूर्च्छना के अवसर पर उत्पन्न हुए आनन्दातिशय तथा नेत्र मीलन कर रहे है। अतः उसे कोई भी न जान सका।

---

1. तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन।
   स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरूष गायनी कृताः।। नै0 1/103
2. शशाक निहोतुमनेन तत्प्रियामयं बभार्षे यदलीकवीक्षिताम्।
   समाज एवालपितासु वैणिकैमुमूर्च्छ यत्पंचममूर्च्छनासु च।। नै0 1/55

संगीतशास्त्र में गायन के साथ नृत्य का भी महत्व है। नर्तक-नर्तकी वाद्यों के अनुसार ही अपने अङ्गो का निक्षेप करते है।

नैषध महाकाव्य में नृत्यकला के बारे में भी वर्णन भली-भांति दृष्टिगोचर होता है। महाकवि श्रीहर्ष नृत्यकला का वर्णन करते हुए उल्लेख करते है कि ''ऊँचे मङ्गलमयमृदङ्ग के स्वरों को, भङ्गी के प्रतिध्वनि होने के कारण श्रेष्ठ बुद्धि प्रदर्शन करते हुए महलों के समूहों ने चञ्चल ध्वजाओं से लोगों के सामने अपने नृत्य कला चातुर्य को दिखाया।[1]''

तात्पर्य यह है कि विवाहार्थ मङ्गलमय मृदङ्ग बज रहे थे उसका उच्च स्वर महलों में प्रतिध्वनित हो रहा था तथा ऊपर पताकाएं वायु से हिल रही थी। तो ऐसा मालूम पड़ता है कि महल भी स्वरों को दुहराते हुए अपनी नृत्य कला का चातुर्य लोगों को दिखा रहे थे। कोई चतुर नर्तकी भी अपने कौशल से मृदङ्ग आदि वाद्यों के अनुसार ही अपने हाथ पैर आदि को हिलाती है।

नैषध महाकाव्य में श्रीहर्ष ने नल विवाह के अवसर पर कुछ विशेष प्रकार के वाद्यों का उल्लेख करते हुए अपने वाद्यज्ञान का परिचय देते हुए वर्णन करते है कि ''उस काल (विवाहोत्सव में अथवा नल के आगमन पर) उस (विदर्भपुरी) में कांस्य तालादि (मंजीरा, करताल, झाल आदि) 'घन' वाद्य पर्याप्त शब्द करते बजने लगे, वीणादि 'तत' वाद्य निरन्तर झंकारने लगे, छिद्र वाले बाँसुरी आदि 'सुषिर' वाद्य उच्च स्वर में बजाये

---

1. उतङ्गमङ्गलमृदङ्ग निनादभङ्गीसर्वनुवादविधिबोधितसाधुमेधाः।
   सौधसव्रः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्तितत्वम्।। नै0 12/6

गये और मुरज, ढोलक, मृदंग आदि 'आनद्ध' वाद्य बहुत अधिक मात्रा में बजाये गये।[1]"

आशय यह है कि विवाह के मंगलावसर पर वर नल के कुण्डिनपुरी में पधारने पर चारों प्रकार के घन, तत, सुषिर और आनद्ध वाद्य बजाये गये।

महाकवि श्रीहर्ष उसी समय का वर्णन करते हुए कहते है कि "वीणा वंश वाद्यों से आच्छादित न हुई और वे (वंश-वाद्य) गाये जाते गीतों से दबे, गीत भी झाँझो (कांसवाद्यो) से न आच्छन्न हुए वे (कांसवाद्य) हुडुक (नाम के वाद्य) से न दबे और वह (हुडुक) भी ढक्का (डमरू-नगाढ़ादि) से न आच्छन्न हुआ और वह (ढक्का) से वे (मर्दल) ही आच्छन्न हुए।[2]"

तात्पर्य यह है कि उस समय विभिन्न प्रकार के वाद्य बज रहे थे और गायक भी द्रुत-मध्यादि मूर्च्छनापूर्वक उच्च स्वर में गा रहे थे। परन्तु उन सबका इस कौशल से आयोजन हो रहा था कि वे एक दूसरे को दबा नही रहे थे। सब स्पष्ट सुनायी दे रहे थे और श्रोताजन सबका आनन्द ले सकते थे।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने उपरोक्त श्लोक के द्वारा सभी वाद्यों का विवरण देते हुए अपनी संगीत कला का परिचय दिया है।

---

1. तदा निसस्वनतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
   अवापुरूच्चैः सुषिराणि राणितामममानमानद्वमियत्तयाऽध्वनीत्।। नै0 15/16
2. विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः।
   न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः साऽपि ने तेऽपि ढक्कया।। नै0 15/17

नैषध में पुत्तलिका-नृत्य विषयक ज्ञान का भी उल्लेख हुआ है। श्रीहर्ष राजा के बने हुए भवन का उल्लेख करते हुए कहते है कि ''जो प्रासाद दीवालों के भीतर छिपाये गये लोगों से आश्चर्यजनक बातें करने वालों का था और तारों के यन्त्रजन्यविविध चेष्टा से आश्चर्यजनक बहुत पुत्तलियों वाला था।[1]''

तात्पर्य यह है कि उस प्रासाद में कहीं पर सूत्र निमित यन्त्र से पुत्तलिकाओं के आश्चर्य नृत्य आदि अभिनय हो रहे थे, तथा जिस प्रासाद की दीवालों के भीतर बनाये गये तथा गृहों में छिपे मनुष्य वार्तादि करते थे तो मालूम पड़ता था कि मानों दीवालें ही परस्पर कथादि कर रही है।

महाकवि श्रीहर्ष वीणा बजाने वाली निपुण गंधर्व कुमारियों के द्वारा बजायी जाने वाली काकली (मधुर) तान सुनायी। इसके बाद उन गंधर्व कुमारियों ने गीत के आरम्भ के पूर्व वीणा के कुछ अति मधुर शब्दों को निकाला। दमयन्ती का स्वर इतना मधुर था कि गंधर्वकुमारियों की वीणा दमयन्ती के सामने बजने से लजा रही थी।[2]''

आशय यह है कि किसी विद्वान के सामने जिस प्रकार निरक्षर मनुष्य बोलने में संकोच करता है, उसी प्रकार दमयन्ती के समझ उन गंधर्व कुमारियों की वीणा भी बजने में संकोच कर रही थी। दमयन्ती का

---

1. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भूतकथादि कौतुकः।
   सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसंजिबहुशालभंजिकः।। नै0 18/13
2. तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची,
   किञ्चितपुरः कलितनिष्कल काकलीका।
   भैमी तथा मधुरकण्ठलतोपकण्ठे,
   शब्दायितुं प्रथममप्रतिभावतीव।। नै0 21/111

कण्ठवर इतना उत्कृष्ठ और मधुर था कि वीणा को उसके सम्मुख आरम्भ में स्वाभाविक संकोच लगा और प्रतीत हुआ कि वीणा कुछ प्रतिभाहीन है।

वीणा दण्ड के छिद्र जितने ही विशद होते है उनका स्वर उतना ही प्रशस्त तथा गम्भीर होते है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए श्रीहर्ष दमयन्ती के कण्ठ की तुलना वीणा से करते हुए कहते है कि "ब्रह्मा ने वीणाओं के समस्त सार भाग को लेकर उस दमयन्ती के कण्ठ नाल को रचा है क्योंकि वीणा से भी अधिक मधुर स्वर दमयन्ती का है।[1]" इसी कारण भीतरी भाव शून्य होने से भीतरी सरसता को छोड़कर लज्जित होती हुई वीणा लयों में कोण को नहीं छोड़ती है। वीणा के भीतरी भाग को जितना खाली किया जाता है। उतना ही अधिक मधुर स्वर वीणा से निकलता है।

आशय यह है कि यद्यपि वीणा मधुरतर बजती रही तथापि दमयन्ती का स्वर उसकी अपेक्षा मधुरतम था।

इन सभी से स्पष्ट होता है कि महाकवि श्रीहर्ष को संगीत का उत्तम प्रकार का ज्ञान था। श्रुति, स्वर, ताल, वाद्य आदि में उनका पाण्डित्य झलकता था। अतः महाकवि श्रीहर्ष संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। जिसमें संगीत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों की चर्चा की गई है। कवि के संगीतज्ञ होने की निपुणता उनके पद्यों द्वारा ही हो जाती है जिसमें लयात्मकता का संचार प्रवाहित होता है।

---

1. आकृष्य सारमखिलं किमु वल्लकीनां,
   तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम्।
   तेनान्तर तरलभावमवाप्य वीणा,
   हीणा न कोणममुचते किमु वा लयेषु।।नै० 21/114

## सामुद्रिक शास्त्र:

सामुद्रिक शास्त्र में मनुष्यों की हाथ व पैर की रेखाओं को उनके चिह्न, रूप आदि का वर्णन किया जाता है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस व्यक्ति के चरण में ऊर्ध्व रेखा का चिह्न होता है वह सर्वोत्कृष्ठ व्यक्ति होता है। इसी तथ्य को दर्शाते हुए महाकवि श्रीहर्ष राजा नल के चरणों की ऊर्ध्व रेखा का वर्णन करते हुए कहते है कि ''यह (राजा नल का चरण) कमल तथा प्रवाल (मूंगा या नव पल्लव) को नीचा करने से और समस्त राजाओं के शिर पर रखे जाने से ऊपर (उन्नत) होगा। यह विचार कर ब्रह्मा ने इस नल के चरण को पहले ही ऊर्ध्वगामिनी रेखा से चिह्नित कर दिया है।[1]''

तात्पर्य यह है कि राजा नल ने अपने चरणों के सौन्दर्य से कमल तथा प्रवाल पर विजय प्राप्ति कर ली है। और अपने शत्रु राजाओं के उठे हुए सिरों पर अपना पैर रखा है अर्थात् उन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। अतः उनका चरण कमल तथा पल्लव की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा राजाओं के सिर पर विराजमान था अतएव कवि द्वारा कल्पना की गयी कि कदाचित् ब्रह्मा ने यह समझकर कि आने वाले भविष्य में राजा का चरण ऊर्ध्व स्थित होगा, उसको सर्वोत्कृष्ठ सम्बन्धी ऊर्ध्वरेखा से अङ्कित कर दिया है। सामुद्रिक शास्त्रानुसार राजा नल के पैर में शुभ-सूचक ऊपर की आरे जाने वाली रेखायें थी।

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते है। श्रीहर्ष राजा नल के रोमों के बारे में वर्णन करते हुए कहते है कि ''ब्रह्मा

---

1. अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानदखिलक्षमाभुजाम्।
   पूरेदमूर्ध्व भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्गिमूर्ध्वरेखया।। नै0 1/18

ने रोमों के कपट (बहाने) से साढ़े तीन करोड़ रेखाओं से इस नल के गुणों को नही गिना (अर्थात अवश्य ही गिना) जगत्सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने साढ़े तीन करोड़ कूपों के कपट से (नल) के दोष भाव बिन्दुओं को नहीं गिना अर्थात् अवश्य गिना।[1]''

तात्पर्य यह है कि ''रोमाणि मानुषे'' इस वचन के अनुसार मानव शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हुआ करते है। अतः भाव यह है कि ब्रह्मा ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोमों के बहाने से राजा नल के गुणों की गणना की थी। तथा उसी ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोम छिद्रो के बहाने से राजा नल के अन्दर दोषों के अभाव स्वरूप गोल छिद्रों का भी निर्माण किया था। अत्याधिक संख्या वाली वस्तुओं की गणना करते समय विस्मरण न होने देने के लिए रेखाओं द्वारा उनकी गणना किया जाना तथा अभाव सूचक स्थानों पर गोलाकार शून्य बिन्दुओं को रखना लोक व्यावहार में भी देखने को मिलता है।

अतएव महाकवि द्वारा यह कल्पना किया जाना कि राजा नल के शरीर में ये रोम नहीं अपितु राजा नल के गुण गणना की रेखायें ही है तथा ये रोम कूप नहीं है। किन्तु दोष सूचक शून्य बिन्दु ही है। अभिप्राय यह है कि राजा नल में अत्यधिक गुण थे तथा दोषों का सर्वथा अभाव था।

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार किसी स्त्री तथा पुरूष के हाथ व पैर पर मत्स्य आदि के चिह्न होने से उसके चक्रवर्ती होने का लक्षण होता

---

1. किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखा भिरजीगणद् गुणान्।
   न रोमकूपौधमिषाज्जगत्कृता कृताञ्च किं दूषणशून्यबिन्दवः।। नै0 1/21

है। महाकवि श्रीहर्ष राजा नल के कर में मत्स्य चिह्न के देखकर कहते है कि "उस उद्यान में विद्यमान सभी लोगों ने राजा नल को साक्षात् कामदेव ही समझा। उस वन में सभी ऋतुएं विद्यमान थी। राजा नल द्वारा ऋतुराज वसंत का अनुगमन किया रहा हो ऐसा प्रतीत हो रहा था, चक्रवर्ती होने की दृष्टि से उनके हाथ में मत्स्य का चिह्न था अत: मकर केतन तथा वसन का मित्र होने के कारण वहाँ स्थित लोगों ने उन्हें कामदेव समझा।[1]"

तात्पर्य यह है कि कामदेव के ध्वज का चिह्न भी मत्स्य है और राजा नल के हाथ में भी मत्स्य का चिह्न है। इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो साक्षात् कामदेव ही उस उद्यान में अवतरित हुए हों।

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिसमें सुन्दर रूप होता है उसमें गुण भी होता है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए श्रीहर्ष राजा नल द्वारा हंस में सुन्दर रूप तथा सुन्दर गुणों को देखते हुए कहते है कि "हे हंस! तुम्हारी आकृति तुलना का विषय नहीं है तथा तुम्हारी सुशीलता वाणी का विषय नहीं है। जहाँ आकृति है वहाँ गुण है इस सामुद्रिक शास्त्र के सारभूत नियम के तुम्हीं उदाहरण हो।[2]"

तात्पर्य यह है कि हंस का रूप अतुलनीय है, सुशीलता अवर्णनीय है। उसकी आकृति एवं गुण का सन्निवेश देखकर सामुद्रिक शास्त्र का यह नियम बना है।

---

1. करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमाल वालाम्बुनिवेशशङ्कया।
   व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निवस्मर:।। नै0 1/105
2. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
   त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा।। नै0 2/51

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार अधरों के मध्य रेखा के दोनों पार्श्वभागों का कुछ उठा होना सौन्दर्य एवं सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। नैषध महाकाव्य में इसी सन्दर्भ का उल्लेख करते हुए श्री हर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए कहते है कि "राजा नल दमयन्ती के सौन्दर्य को देखकर कहते है कि दमयन्ती के दोनों ओष्ठों के मध्यभाग के समीपवर्ती कुछ उठे हुए से दोनों ओष्ठ सुशोभित हो रहे है। यह क्या स्वप्नकाल में संभोग के समय दन्तक्षत करने से मैनें अपराध तो नहीं किया अर्थात् अवश्य किया है।[1]"

आशय यह है कि दमयन्ती के अधरोष्ठ के दोनों प्रान्त स्वभावतः कुछ ऊँचे उठे हुए है। यह सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ लक्षण है।

सामुद्रिक शास्त्र में ठुड्डी के नीचे मध्य भाग में थोड़ा सा दबा रहना शुभ माना जाता है। श्रीहर्ष दमयन्ती के सौन्दर्य के वर्णन के प्रसङ्ग में नल के द्वारा इसी तथ्य का उल्लेख करते है कि "दमयन्ती के चिबुक को देखकर नल कल्पना करते है कि सुन्दरी के मुख की सुषमा का निर्माण करने के बाद क्या ब्रह्मा ने इसके मुख को देखा था जो इसके मध्य में थोड़ी दबी हुई हड्डी में अंगुली के रखने का चिह्न सा बन गया है।[2]"

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा ने उसके मुख को ऊपर उठाया। उसका मुख इतना सुकुमार था कि ब्रह्मा के अंगुलि के चिह्न दमयन्ती के मुख में आ गये। कवि यह कल्पना करता है कि दमयन्ती का मुख सुकुमार होने

---

1. मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागों भाताः किमुष्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
   तत् स्वप्नसंभोग वितीर्णदन्तदंशैन किं वा न मयापराद्धम्।। नै0 7/40
2. विलोकितास्या मुखमुन्नमध्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तो।
   भृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गगुलियन्त्रणेव।। नै0 7/51

के कारण अंगुलि के दबाव को भी नहीं सहन कर पाया और उसमें सदा के लिए चिह्न पड़ गया है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार ठुड्डी के मध्य भाग में थोड़ा सा दबा रहना शुभ लक्षण से युक्त माना गया है।

अतः उपर्युक्त सन्दर्भो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि श्रीहर्ष को सामुद्रिकशास्त्र का भली-भांति ज्ञान था। जिसका प्रयोग उन्होंने अपने नैषध महाकाव्य में चतुरतापूर्वक किया है।

**अश्व शास्त्र:**

महाकवि श्रीहर्ष अश्व विद्या से भली-भांति परिचित थे। अश्वों के लक्षणों से लेकर उनकी गति के लक्षण नैषध में देखने को मिलते है। घोड़ों के गुणों की भी उन्हें प्रमाणिक जानकारी थी। अश्वों की सरपट गति का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था।जिसका उल्लेख उनके महाकाव्य में मिलता है। श्रीहर्ष ने नैषध के प्रथम सर्ग में अश्वों का परिचय दिया है।इससे स्पष्ट है कि उन्हें अश्वशास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

अश्व शास्त्रानुसार जो अश्व अपने खुरों से भूमि को निरन्तर खनता रहता है वह श्रेष्ठ माना गया है। इसी सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए महाकवि श्रीहर्ष उत्तम लक्षणों से अश्व का वर्णन करते हुए कहते है कि "उसके पश्चात् उत्तम लक्षणों से युक्त अलङ्कारों से विभूषित श्वेत वर्ण वाले, वेग तथा ऊँचाई में पुरुष से भी अधिक और निरन्तर चञ्चल अपनी खुरो द्वारा घुड़साल के मध्य भाग को खोद डालने वाले अश्व को ले आये।[1]"

---

1. अमीततस्तस्य विभूषितंसिंत जवेऽपिमानेपि पौरुषाधिकम्।
   उपहारन्नश्वमजस्त्रञ्चग्चलैः खुराञ्चर्लेः क्षेदितमन्दुरोदस्म्। नै0 1/57

तात्पर्य यह है कि राजा नल के सेवक अश्व शास्त्र के अनुसार उत्तम लक्षणों से युक्त घोड़े को वहाँ ले आये।

अश्व शास्त्र के अनुसार अश्व के गले में देवमणि शुभ मानी जाती है, देवमणि को कौस्तुभमणि भी कहते है। इसी तथ्य को दर्शाते हुए महाकवि श्री हर्ष कहते है कि "गल प्रदेश में स्थित देवमणि नामक शुभ लक्षणों के सूचक चिह्न विशेष से कण्ठ में स्थित गर्दन के ऊपरी प्रदेश की ओर जाते हुए मार्ग से निकले हुए तथा चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल वर्ण वाले केसर के बालों की किरणों से सुशोभित उस अश्व पर राजा नल सवार हुए।[1]"

महाकवि श्री हर्ष अश्व के द्वारा भूमि खनने से खुरों में लगी रज के प्रति उत्प्रेक्षा करते हुए उल्लेख करत है कि "तीव्र वेग को सीखने के निमित्त आये हुए अणुपरिणाम वाले लोगों के मनो के सदृश लगातार पृथ्वी तल पर ताड़न किये जाने से उठी हुई धूलियों के द्वारा उस घोड़े के चरण सेवित किये जा रहे थे।[2]"

तात्पर्य यह है कि लोगों के मन राजा नल के घोड़े के वेगातिशय को सीखने के लिए आये हुए है। अतएव धूलि के रूप में विद्यमान उनके मन अपने गुरू घोड़े के चरणों का स्पर्श कर रहे है।

अश्व का प्रोथ (थूथन) स्वभावतया चञ्चल होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए श्री हर्ष नैषध में उल्लेख करते हुए कहते है कि

---

1. अथान्तरेणवटुगामिनन्नाऽध्वना विशीथिनीनाथ महः सहोदरैः।
   निगालगाद्देवमणि रिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः।। नै0 1/58
2. अजस्रभूमि तटकुट्टनोत्थि तैरूपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
   रथप्रकर्षध्यनार्थमागर्तेजनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः।। नै0 1/59

"नथुनों अथवा ओष्ठ के अग्रभाग की अत्यधिक चञ्चलता के द्वारा अपने वेग सम्बन्धी दर्प को मानो राजा नल के कहने के लिए उत्कण्ठित किन्तु 'मत कहो ये नल स्वयं ही घोड़े के वास्तविक अभिप्राय को जानने वाले है। इस कारण पूर्णरूपेण मौन को धारण किये हुए है।[1]"

आशय यह है कि अश्व अपने तीव्रगमन सम्बन्धी वेग के दर्प को राजा नल से कहने का इच्छुक है। इसी कारण बार-बार अपने नथुनों को अत्यधिक चञ्चलता युक्त कर रहा है। किन्तु बाद में वह सोचकर कि राजा नल स्वयं ही अश्व विद्या में भी पारङ्गत है। अतः वे मेरे हृदय की बात को स्वयं ही समझ रहे होंगे। इसी कारण वह मौन है।

श्रेष्ठतम अश्व का वर्णन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष कहते है कि "श्वेत वर्ण की कान्ति से युक्त तथा हिलती-डुलती पूँछ और गर्दन पर स्थित बालों (अवालों) के बहाने से (के रूप में) हिलाये और डुलाये जाते हुए, दो चामरों के चिह्नों के द्वारा अपने अश्वराजत्व को प्रकट करते हुए घोड़े पर राजा नल सवार हुए।[2]"

तात्पर्य यह है कि घोड़े के पृष्ठ भाग में उसकी श्वेत वर्ण की पूँछ हिल-डुल रही थी तथा आगे की ओर गर्दन पर स्थित बाल (अवाल) हिल-डुल रहे थे। मध्य में उसकी पीठ पर राजा नल विद्यमान थे। इसलिए ऐसा प्रतीत होता था कि मानो राजा के दोनों ओर दो चामर डुलाये जा रहे हो। अर्थात् (श्रेष्ठतम् घोड़ा होना) प्रकट कर रहा था।

---

1. चलाचलप्रोथतया महभृते स्ववेगदर्पनिववक्तुमुत्सुकम्।
   अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्।। नै0 1/60
2. सितत्विषश्चञ्चलातामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्यच।
   स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिहवानं निजवाजिराजताम्।। नै0 1/62

महाकवि श्रीहर्ष अश्व के वेग का उल्लेख करते हुए कहते है कि "वेग के अभिमान में बलपूर्वक जीते हुए गरूड़ के सर्वभक्षण रूप पुरूषार्थ में भी मुख में पड़ी हुई सर्पाकार लगाम के द्वारा प्रतिमल्लभाव को प्राप्त हुए अश्व पर राजा नल सवार हुए।[1]"

आशय यह है कि घोड़े ने अपने वेग की तीव्रता में तो पहले ही गरूड़ को पराजित कर दिया। किन्तु गरूड़ की एक शक्ति अभी शेष थी और वह उसकी सर्वभक्षण सम्बन्धी शक्ति। इस शक्ति को भी इस घोड़े ने अपनी मुख में पड़ी हुई सर्पाकार लगाम की रस्सी के द्वारा मानों (गरूड़) का प्रतिद्वन्दी होकर जीत लिया था। घोड़े के मुख में पड़ी लगाम के साथ संलग्न मुख के दोनों ओर लगी हुई रस्सी दो सर्पों के रूप में प्रतीत हो रही है।

अश्व का सबसे बड़ा गुण सत्व है (पानीदार होना) बिना सत्व (पानी हीन घोड़ा रखना ही नहीं चाहिए)। सारसिन्धु में कहा गया है कि "सत्व के बिना सारे लक्षणों एवं गुणों से युक्त अश्व भी उसी प्रकार का श्लाघ्य नही है जैसे पाँचो इन्द्रियों से युक्त शरीर भी बिना आत्मा के होता है।[2]"

इसी तथ्य की चर्चा महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषध महाकाव्य में करते हुए कहते है कि "राजा नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े से जिन सुन्दर गोलाकार चक्करों को लगवाया उन गोलाकार चक्करों को वायु

---

1. अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरूषे मुखानुषक्तायत वल्गुवल्गया।
   उपेयिवासं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरूत्मतः।। नै० 1/63
2. तल्लक्षगुणैः श्लाध्यैः किंसत्वेनबिना हयः।
   पञ्चोन्द्रिय समेतोपियथाकायो विनात्मना।। नै० ना० टीका 1/73

आज भी बवण्डर के रूप में नहीं सीख रहा है क्या अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आज भी वायु घोड़े द्वारा किये गये उन चक्करों का अभ्यास कर रहे है। इतना होने पर भी इस समय तक वायु यथार्थ रूप से उन्हें नही सीख पाया है।[1]''

इसी प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने अश्व शास्त्रज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है। अश्व का स्वभाव, उसकी गति अदि विविध बातों का उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष ने राजा नल के अश्व के वर्णन में किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को अश्वविद्याा का पूर्ण ज्ञान था।

**कामशास्त्र:**

परम्परा से माना जाता है कि प्रजापति ब्रह्मा ने मानवजीवन को नियमित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के साधनाभूत एक लाख अध्यायों वाले एक शास्त्र का प्रवचन किया था। इस विशाल संविधान के सहारे से 'मनु' ने 'मनुस्मृति' की रचना की, बृहस्पति ने "बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र" की रचना की तथा महादेव के अनुचर नंदी या नन्दिकेश्वर ने 'कामविषयक' अंश को पृथक कर 'कामशास्त्र' की रचना की।

कामशास्त्र में स्त्री पुरूष के कामकला का वर्णन एवं विशद विवेचन किया है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने अनिवर्चनीय महाकाव्य 'नैशधीयचरितम्' में कामशास्त्र के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है जिसमें उनके कामशास्त्रीय ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

1. अचीकरच्चारू हयने या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
   मरूत किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामय चक्र चक्रमान।। नै0 1/73

साहित्यशास्त्र में काम की दस दशायें मानी गई है। नयनप्रीति, चित्तासक्ति, निद्रानाशादि ये दशायें है। साहित्यशास्त्रानुसार काम की दशाओं में नयन प्रीति भी एक दशा है। इसी की चर्चा करते हुए श्री हर्ष नैषध में उल्लेख करते है कि- "वह (राजा नल) अपनी आँख में उकेरी गयी चित्तमयी स्वरूप को बड़े आदर टक-टकी से देखते हुए आंखो की धारा प्रवाह-आंसुओं से उत्पन्न जैसा तुम्हारे द्वारा रचित अपना चश्रुराग ही धारण कर रहा है।[1]"

तात्पर्य यह है कि राजा नल के तुम्हारे वियोग में तुम्हारे चित्रों को देखकर जो अश्रु प्रवाहित हो रहे है। उन अश्रुओं की वह लाली नही है। बल्कि तुम्हारे नेत्रों से किया गया वह नेत्रों का अनुराग है जिसे वह राजा नल धारण कर रहा है।

काम की दशा का उल्लेख करते हुए राजा नल की काम दशा को बताते हुए श्रीहर्ष उल्लेख करते है कि "राजा नल, दमयन्ती को चित्रमयी एकटक दृष्टि से देखते हुए तेरे रस का पान करते है तथा राजा नल के नेत्रों में नयनप्रीति और निर्मिमेष है।[2]"

आशय यह है कि राजा नल बिना पलक गिराये हुए दमयन्ती को देखता है। तो उनके नेत्रों से झर-झर अश्रु बहते है यह नयनानुराग तथा निर्मिमेष है यही काम की प्रथम अवस्था है।

---

1. लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिमेषम्।
   चक्षुझरैरपितामात्मचक्षु रागं स धत्ते रचितं त्वया नु।। नै0 3/103
2. पातुर्दृशाऽऽलेखमयी नृपस्यत्वामादरादस्तनिमीयलयाऽस्ति।
   ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदयाविवादः।।नै0 3/104

काम की चित्तासक्ति दशा का वर्णन करते हुए महाकवि श्री हर्ष राजा नल को काम की दूसरी दशा, चित्तासक्ति दशा के माध्यम से चित्रित करते हुए कहते है कि "तुम सर्वथा बाहर रहकर भी सर्वदा राजा नल के हृदय में रहती हो। अतः दमयन्ती राजा नल को प्राणों से भी अधिक प्रिय है वह नल तुम्हारे ही बारे में विचार करता रहता है।[1]"

तात्पर्य यह है कि राजा नल को दमयन्ती प्राणों से भी प्रिय है उसके हृदय पटल में उसका ही रूप प्रतिविम्बित होता है। अतः राजा नल काम से अत्यधिक व्याकुल है।

श्री हर्ष हंस के माध्यम से काम की चौथी अवस्था निद्रानाश वर्णन करते हुए राजा नल की काम स्थिति बताते है कि "हंस दमयन्ती से कहता है कि राजा नल को तुम्हारे वियोग में रात को नींद नहीं आती है। वे पलंग से उठ कर बैठ जाते है। तुम राजा नल के मन को मोह रूप अन्धकार में डुबोती हो तथा पूरे शरीर का आलिङ्गन करके दोनों नेत्रों को चूमती हो। वह निद्रा रूप में तुम ही हो और स्त्री नहीं है।[2]"

काम की पांचवी अवस्था तनुता (शरीर की दुर्बलता) का वर्णन श्री हर्ष करते हुए कहते है कि "कामदेव ने उस राजा नल को छील-छाल कर उसे दुबला कर दिया है। केवल उसकी सुन्दरता ही शेष बची है। क्योंकि अत्यन्त दुबला पतला होने पर भी वह राजा कामदेव के साथ होड़ करना नहीं छोड़ता।[3]"

---

1. तं हृद्रता भैमि बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
   न चित्तयाक्रामति तत्र चित्रमेतनमनो यद्भवदेकवृत्ति।। नै0 3/105
2. स्थितस्यरात्रावधिशस्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयान्ति।
   आलिङ्गय या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा।। नै0 3/109
3. स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
   अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धा न सार्धं विजह्यति तेन।। नै0 3/109

तात्पर्य यह है कि राजा नल काम की पीड़ा से अत्यन्त दुर्बल हो गये है तथापि सुन्दरता में कामदेव के समान ही है। दुर्बल होने से उनकी सुन्दरता में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

काम की सातवीं अवस्था निर्लज्जता का वर्णन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष लिखते है कि "यह राजा नल दमयन्ती को प्राप्त करने के लिए पाप से नहीं डर रहा है। यह सुनकर दास होकर भी तुमसे नही लजाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कामदेव ने अपने तीक्ष्ण बाणों से छील-छाल कर इसके स्वभाव को भी छील दिया है।[1]"

तात्पर्य यह है कि राजा नल एक क्षत्रिय है, क्षत्रिय लोगों के लिए राक्षस नामक विवाह का विधान है तथापि राजा होकर भी वे क्षत्रिय विवाह के माध्यम से दमयन्ती का अपहरण करना चाहते है। और इसी पाप-पुण्य के माध्यम से राक्षस विवाह को पूर्ण करने में उनकों कोई लोक-लाज का डर नही है। यह सब वे तुम्हारे लिए ही कर रहे है तथा तुम्हारा दास होना स्वीकार करते है। ये सब वे काम के आवेश में कर रहे हैं।

काम की आठवीं अवस्था उन्मादावसस्था होती है। इसी सिद्धान्त का राजा नल के दमयन्ती जनित कामज्वर को हंस के माध्यम से बताते है कि "हंस दमयन्ती से कहता है कि हे भौमि, तुम राजा नल से रूष्ट हो गई हो, ऐसी सम्भावना करके वह राजा नल एकाएक उठ जाता है। समीप आकर तुझे प्राप्त कर लिया है ऐसा मानकर आनन्दित होता है तथा आनन्द में डूब कर हँसता है। तुम कहीं जा रही हो ऐसा विचार करके

---

1. त्वत्प्रायकात्वस्याति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जतेयत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैलून: स्वभावोऽपि कियान् किमस्य।। नै0 3/110

तुम्हारे पीछे-पीछे चलता हैं। तुमने उससे कुछ कहा है ऐसा व्यर्थ में ही समझकर तुमसे बात करता है तथा तुम्हारी बातों का उत्तर देता है।[1]"

तात्पर्य यह है कि राजा नल काम ज्वर से इतने अधिक व्याकुल है कि वे पागलों की तरह आचरण कर रहे है। दमयन्ती के वहाँ न रहते हुए भी उससे बाते करने, उसके पीछे-पीछे चलना ये सब उन्माद के ही लक्षण है। अतः यहाँ पर कवि ने आठवीं अवस्था उन्माद का बहुत धैर्यतापूर्वक ही वर्णन किया है।

काम की नौवीं दशा मूर्च्छा होती है। इसी का उल्लेख करते हुए श्री हर्ष कहते है कि "हंस दमयन्ती से कहता है हे दमयन्ती राजा नल तुम्हारे वियोग की पीड़ा रूपी धारा में निरन्तर डूब रहा है। यह सब काम के कारण ही हो रहा है। जिस प्रकार कोई हाथी यमुना नदी के दलदल में बिना महावत के घुसकर फंस जाता है तथा उसका बाहर निकलना असम्भव होता है। उसी प्रकार राजा नल भी तुम्हारे वियोग में काम की पीड़ा रूपी धारा के वेदनाओं से मूर्च्छाजनित महामोह में फंस गया है। वह बाहर निकलने में असमर्थ है। इसलिए तुम ही उसकी पीड़ा को दूर कर सकती हो।[2]"

रति रहस्य के अनुसार काम की दसवीं अवस्था मरण का निषेध का उल्लेख है। इसी सिद्धान्त का उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष हंस के माध्यम से राजा नल की दशा का वर्णन करते है कि "कामदेव के दोनों हाथों से

---

1. विभेति रूष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
   यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतारूक्तस्त्वयेन प्रतिवक्ति मोघम्।। नै0 3/112
2. भवद्वियोगच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः।
   मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भट कुञ्जरोऽयम्।। नै0 3/113

छोड़े गये दस बाणों के माध्यम से उत्पन्न की गयी दस दिशाओं से शेष बची दसवीं दशा आकाश रूपी पुष्प हो गये है।[1]''

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश में पुष्प का खिलना असम्भव माना गया है उसी प्रकार राजा नल को काम का वह दशम बाण आकाश कुसुम की तरह असंभित हो जाये। राजा नल काम में इतने अधिक व्याकुल है कि उनको मृत्यु का सामना करना पड़ रहा है। इस मरण से पहले ही राजा नल और दमयन्ती का मिलन हो जाय।जिससे राजा नल को मृत्यु का सामना न करना पड़े।

साहित्य दर्पण में भी काम की दस दशाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है। यथा-

**साभिलाषश्चिन्ता स्मृतिगुणकथनोद्वेग सम्प्रलापश्च।**

**उन्मोदोऽथ व्याधिर्जडतः मृतिरिति दशात्र कामदशाः।।**

नैषध महाकाव्य में महाकवि श्रीहर्ष द्वारा वर्णित नल और दमयन्ती के काम प्रसङ्गों के वर्णन में कामशास्त्र जनित दृष्टान्तों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन कुछ श्लोकों के माध्यम से जाना जा सकता है।-

महाकवि श्री हर्ष राजा नल और दमयन्ती की कामक्रीडाओं का वर्णन करते हुए कहते है कि ''राजा नल मणियों से व्यापक आसन पर बैठे थे तथा जिस दिशा का आलिङ्गन कर, जिस दिशा के सम्मुख बैठे

---

1. सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरूक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
   दशासु शेषा तदृशा या तया नभः पुष्पयतु कोरकेण।। नै0 3/114

थे। उस दिशा का अपने प्रिय द्वारा आलिङ्गन होने के कारण दमयन्ती ने उस दिशा की ओर नही देखा।[1]''

तात्पर्य यह है कि राजा नल जिस दिशा के सम्मुख बैठे थे मानों ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उसी दिशा का आलिङ्गन कर रहे हो। अतः यह दमयन्ती को ईर्ष्या के कारण सहन नहीं हुआ। अतः उसने अपना मुख उस दिशा से हटा दिया।

श्रीहर्ष दमयन्ती की तुलना कमलिनी से करते हुए कहते है कि ''वह दमयन्ती कमलिनी के समान थी। जिस प्रकार कमलिनी कोरकावस्था में अपने गंध को प्रकट नही करती है। थोड़ा विकसित होने पर उसे प्रगट करती है। उसी प्रकार दमयन्ती ने भी पति के साथ रति विषयक कुछ भाव छिपाती थी और कुछ भाव को अपनी सखियों के सामने प्रगट करती थी।[2]'' इस प्रकार दमयन्ती और कमलिनी की समानता दिखाई गई है।

श्रीहर्ष राजा नल द्वारा दमयन्ती से सुरत भिक्षा मार्गे जाने का वर्णन करते हुए कहते है कि ''राजा नल के सुरत भिक्षा का दमयन्ती द्वारा निषेध करना। इससे यह स्पष्ट है कि दमयन्ती ने सुरत की अनुमति दे दी है।[3]'' भाव यह है कि नल के दमयन्ती से सुरत याचना करने पर उसने कोई उत्तर नहीं दिया तो ''अप्रतिषिद्धं परवचननुमतं भवति'' अर्थात् दूसरे के

---

1. आसने मणिमरीचिमांसले यां दिश स परिरभ्य तस्थिवान्।
   तामसूयितवतीव मानिनी न व्यलोकयदियं मनागपि।। नै0 18/31
2. कुर्वती निचुलितं हिन्या कियत् साद्दात् विवृतसौरभंकियत्।
   कुड्मलोन्मिषितसूनसेविनी पद्मिनी जयति सा स्म पद्मिनी।। नै0 18/49
3. आत्थ नेति रतयचितं न यन्मामतोऽनुमतवत्यसि स्फुटम्।
   इव्यमुं तदभिलापनोत्सुकं धूनितेन शिरसा निनाय सा।। नै0 18/70

वचन का निषेध नहीं किया जाता तो वह स्वीकृत समझा जाता है। इस प्रकार दमयन्ती ने सम्भोग की अनुमति दी।

महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती के भूद्रव से कामदेव के धनुष की समानता करते हुए कहते है कि "दमयन्ती ने सम्भोग में जो अपनी भौहो को टेढ़ा किया। उसने ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामदेव ने अपने धनुष को झुकाया तथा दमयन्ती ने हुं हुं शब्द किया उससे ऐसा प्रतीत हुआ मानों कामदेव के बाण छोड़ने से हुङ्कार ध्वनि हुई।"[1]

महाकवि श्रीहर्ष राजा नल द्वारा दमयन्ती के चरणों को चूमने का वर्णन करते हुए कहते है कि "प्रणाम करने के लिए उद्यत नल ने दमयन्ती के दोनों चरणों के दसों नखों में अपने प्रतिबिम्बों से युक्त होकर अर्थात् ग्यारह जीतने की इच्छा से ग्यारह मूर्ति धारण किये हुए कामदेव की समानता को प्राप्त किया।[2]"

तात्पर्य यह है कि जब नल दमयन्ती को प्रसन्न करने के लिए उसके चरणों पर गिरे तब उसके दसों नखों में नल का प्रतिबिम्ब पड़ गया। वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों ग्यारह रूद्रों को जीतना अशक्य मानकर उनसे डरे हुए कामदेव ने भी ग्यारह रूपों को धारण कर लिया है।

श्रीहर्ष राजा नल द्वारा दमयन्ती के प्रति अतिशय प्रेम के वर्णन का उल्लेख करते हुए कहते है कि "हे सुमुखि दमयन्ती! तुम्हारा जो दर्शन है

---

1. यद्भुवौ कुटिलते त्रया रते मन्मथेन तदनामि कार्मुकम्।
   यत्तु हुं हुमिति सा तदा व्यधात्तत् स्मरस्य शरमुक्ति हुङ्कृतम्।। नै0 18/88
2. तत्पदाखिल नखानुबिम्बनैः स्वैः समेत्य समतामियाय सः।
   रूद्रभीतिविजिगीषया रतिस्वाभिनोपदशमूर्तिता भृता।। नै0 18/133

वही मेरा अनुपम आनन्द होने से उत्सव है। जो तुम्हारा बहुत समय तक मैनें दर्शन किया वह मेरे लिए अतिसुखकर प्रतीत होता है जिस वस्तु से तुम प्रेम करती हो वही मेरा राज्य है और तुम्हारे अङ्गों का जो विलास है वही मेरा अमृताभिषेक है।[1]"

तात्पर्य यह है कि राजा नल काम में इतने अधीर है कि उन्हें दमयन्ती के सिवा कोई वस्तु रूचिकर प्रतीत नहीं होती। सभी वस्तुओं में वे दमयन्ती की छवि देखते है इस प्रकार हे सुन्दर मुख वाली तुम्हारे बिना साम्राज्यादि कोई भी वस्तु या कार्य मुझे सुखकर नहीं है तुम्ही मेरे सर्वाविधि सुख का साधन हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि श्री हर्ष कामशास्त्र से भली-भांति परिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उन्होंने वात्सायन के कामशास्त्र का अध्ययन किया हो उन्होंने अपने महाकाव्य में अनेक सर्गो में कामशास्त्र विषयक बातों का उल्लेख किया है। इससे उनके कामशास्त्र ज्ञाता होने की पुष्टि होती है।

---

1. स क्षण: सुमुखि! यत्तवदीक्षणं तत्त्व राज्यमुरूयेन रज्यसि।
   तन्नलस्य सुधयाऽभिषेचनं यस्तवङ्गपरिरम्भविभ्रम:।। नै0 18/139
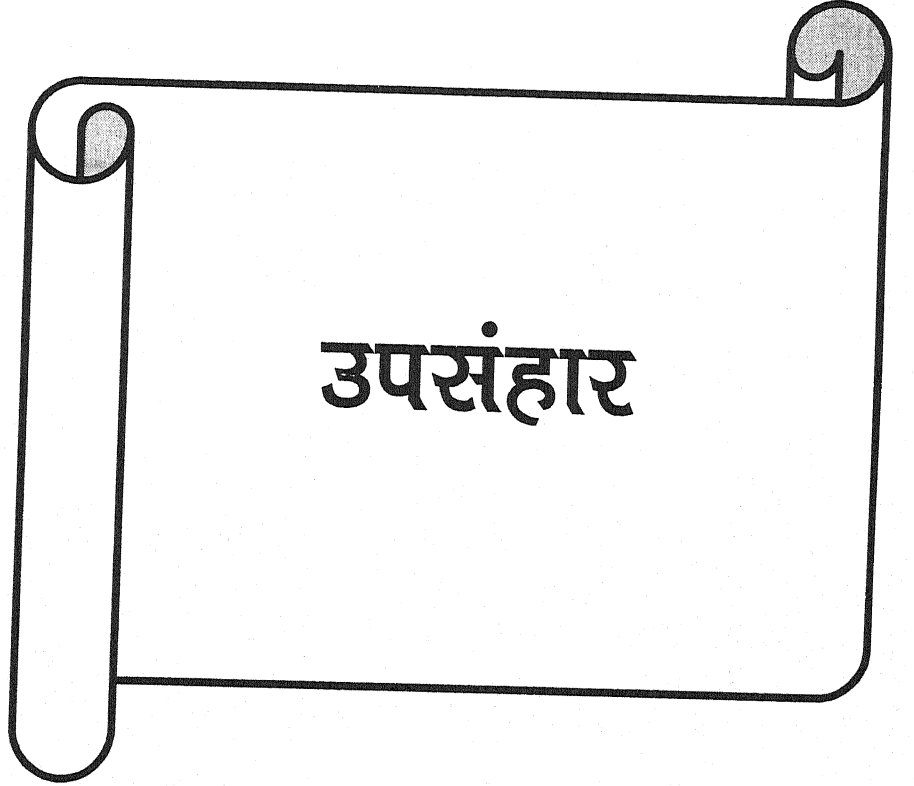
उपसंहार

# उपसंहार

पूर्व वर्णित विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि काशी के राजा विजयचन्द्र की सभा के पण्डित श्री हीर थे। उन्ही श्रीहीर के पुत्र महाकवि श्री हर्ष हुए। महाकवि श्रीहर्ष का समय विद्वानों ने प्राप्त तथ्यों एवं साक्ष्यों के आधार पर 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया है।

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य परम्परा में महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, अश्वघोष, प्रभृति कवियों के साथ श्रीहर्ष का भी महाकाव्यों के विकास में अतुलनीय सहयोग रहा है।

संस्कृत साहित्य की अलङ्कृत काव्य परम्परा में 'नैषधीयचरित' का स्थान अन्यतम है। यह कवि तार्किकचक्रवर्ती महाकवि श्रीहर्ष की अमरकृति है। महाकवि श्रीहर्ष जहाँ उत्कट कोटि के प्रगल्भ कवि है तो वहीं उनकी लेखनी से अद्वैतवेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य का भी सृजन हुआ।

महाकवि श्रीहर्ष का महाकाव्य 'नैषधीयचरित' सहृदय पाठकों के मध्य प्रशंसनीय रहा है। यही कारण है कि इस महाकाव्य के लिए ''नैषधेपदलालित्यं'' सहृदयोक्ति कहकर उनके काव्य के वैशिष्ट्य को व्यक्त किया है। जहाँ तक व्युत्पत्ति परकता का प्रश्न है, श्रीहर्ष ने अपनी काव्य रचना में यथास्थान व्युत्पत्ति को भी अनुस्यूत किया है। यहाँ पर त्युत्पत्ति शब्द

मात्र शाब्दिकनिर्वचनादि का अवरोधक न होकर काव्य हेतु की चर्चा में काव्य के उपादान के रूप में स्वीकृत व्युत्पत्ति (निपुणता) का वाचक है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने अपने अतीत की आधार शिला पर स्थिर होकर प्रतिभ कल्पना के सहारे कलात्मक महाकाव्यों का पथ प्रशस्त किया है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई भी साहित्यकार एक ओर अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण करता है तो दूसरी ओर परवर्ती साहित्यकारों के लिए मार्ग निर्देश कर जाता है। महाकवि श्रीहर्ष इसी प्रक्रिया के सच्चे निर्वाहक है। इस प्रकार उन्होंने अपने महाकाव्य 'नैषधचरित' को एक महान् कीर्तिकर निकष रूप में स्थिर किया है।

श्रीहर्ष कवित्वकौशल के साथ ही पाण्डित्य प्रदर्शन को भी अपने महाकाव्य में सर्वत्र रेखांकित करते है। उनका सम्पूर्ण महाकाव्य व्याकरण के प्रयोगों से ओत-प्रोत है। सहृदय पाठकों ने इनके महाकाव्य में व्याकरण के दुरूह से दुरूह एवं सरस से सरस प्रयोग को देखकर उन्हें महावैयाकरण के पद से विभूषित किया है। उनका महावैयाकरण होना इस बात का परिचायक है कि उन्हें समग्र वेदाङ्गों का ज्ञान है। महाकवि श्रीहर्ष ने अवसरानुकूल अपने महाकाव्य में स्वरों के ज्ञान, वर्णोच्चार का तरीका, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों के विषय में ज्ञान शिक्षा वेदाङ्ग का निदर्शन किया है। छन्दों के चयन में तो श्रीहर्ष ने विशेष पटुता दिखाई है। श्रीहर्ष ने उन्नीस छन्दों में अपना वैशिष्ट्य दिखाया है। उनके छन्दों का वैशिष्ट्य द्वादश सर्ग में

देखने को मिलता है। स्वयंवर में राजाओं का परिचय देती हुई सरस्वती के माध्यम से श्रीहर्ष ने वर्ण्य विषयानुकूल विविध छन्दों का प्रयोग किया है जो उनके छन्द प्रयोग के औचित्य को रेखांकित करता है।

श्रीहर्ष के महाकाव्य में वर्ण्य विषय को संप्रेषणीय बनाने वाले नये पर्यायों, शब्दों के प्रयोगों की दक्षता एवं निर्वचन पटुता का प्रयोग पदे-पदे विद्यमान है। साथ ही व्युत्पत्ति निमित्तक शब्दों के प्रयोग में भी उनकी निर्वचन पटुता परिलक्षित होती है। इस प्रकार के प्रयोग उनके निर्वचन अथवा निरूक्त के संकेतक कहे जा सकते है। श्रीहर्ष के नैषधमहाकाव्य में यथा स्थान ज्योतिष विषयक शब्दावली भी देखने को मिली है। यथा भूमकेतु दुरधर योग तथा ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थितियाँ और शकुन-अपशकुनादि उनके ज्योतिषी होने के प्रमाण है। वैदिक कर्मो, यज्ञीय विधियों, मानव कर्त्तव्यों, धार्मिक विधानों तथा वर्णाश्रमों के कर्तव्यों से उनके कल्पज्ञ होने की पुष्टि भी हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष को वेदाङ्गो के तत्त्वों का अच्छा ज्ञान था।

श्रीहर्ष की विष्णु में अनन्य भक्ति होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि नैषध महाकाव्य में गीता की ही भांति मानव को अन्तिम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के लिए सांख्य एवं योग दर्शन के माध्यम से उन तक कैसे पहुँचा जा सकता है उन समग्र कर्त्तव्यों का उल्लेख श्रीहर्ष ने किया है। सांख्य तथा योग की चर्चा तो उनके महाकाव्य में अवसरानुकूल सर्वत्र दिखाई देती है। अन्य

प्रसंगों में योग की भी चर्चा की है। योग के योगविभूति तथा समाधि का संकेत श्रीहर्ष ने करा दिया है। अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों की चर्चा तो अनेक स्थलों पर है। संसार को मिथ्या मानकर ब्रह्म अथवा परमात्मा को एक मात्र सत्य मानते है। ज्ञान प्राप्ति की साधना तथा मोक्ष प्राप्ति की प्राप्ति की आकांक्षा की श्रीहर्ष ने अनेक स्थलों पर प्रकट किया है। श्रीहर्ष ने अपने काव्य में मीमांसा और वैशेषिक दर्शनों की भी चर्चा की है। वे दान की महिमा पर भी अधिक बल देते है। दानशीलता भी उनके स्वभाव का भाग रहा होगा। क्योंकि उन्होनें अनेक शब्द पद्यों में दान की चर्चा की है।

इन्ही प्रसंगो मे वैशषिक दर्शन के तत्त्वों, गुणों आदि का संकेत भी किया गया है। न्याय के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र कुछ विवेचन किया गया है। साथ ही साथ बौद्ध एवं जैन दर्शनों में, बौद्ध के शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा साकारवाद एवं जैनों के त्रिरत्न के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में आस्तिक तथा नास्तिक दोनों प्रकार के दर्शनों के तत्त्वों को समाहित किया है।

श्रीहर्ष के समग्र काव्य में अलंकार और अलंकार्य की चर्चा की गई है। श्रीहर्ष कहीं-कहीं गुण और अलंकार का तथा कहीं गुण और रस भावादि का एक साथ संकेत करते है। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। श्रीहर्ष के काव्य शास्त्रीय सन्दर्भो की भांति यद्यपि अलंकार और अलंकार्य के विभाजन के बारे में श्रीहर्ष के पद्यों

में स्पष्ट निर्देश नही प्राप्त होता है। तथापि उनकी तद्विषयक अवधारणा की परिकल्पना प्रस्तुत उदाहरणों से की जा सकती है। ''नैषधपदलालित्यम्'' की सहृदयाभिव्यक्ति श्रीहर्ष के पदलालिता को बढ़ा देती है। तथा उनके पाण्डित्य को इंगित करती है। श्रीहर्ष ने अत्यन्त कुशलता से काव्योचित शब्दों का चयन किया है। योजना बद्ध तरीके से न रहने पर भी उनका शब्दार्थ विषयक दृष्टिकोण यत्र-तत्र स्पष्ट होता है। श्रीहर्ष के नैषधचरितम् में नाट्यशास्त्र विषयक बातों का उल्लेख हुआ है। उनके कुछ पद्यों में नाट्यशास्त्रीय शब्दों का भी उल्लेख किया गया है। जिससे उनके नाट्य-शास्त्रज्ञ होने का अनुमान किया जा सकता है।

श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य में आयुर्वेदशास्त्र के लक्षणों का भी उल्लेख किया गया है। राजा नल का ज्वर जब ठीक नही होता है तो वैद्य लोग आकर आयुर्वेदशास्त्रीय ढंग से उपचार करने का प्रयत्न करते है। ठीक इसी प्रकार दमयन्ती के साथ भी होता है जिसमें आयुर्वेद चिकित्सा का सहारा लिया जाता है। इससे उनके आयुर्वेदशास्त्रज्ञ होने की जानकारी प्राप्त होती है।

इस महाकाव्य में सामुद्रिक शास्त्र का भी वर्णन प्राप्त होता है। कवि नल की चरण व हस्त रेखाओं की ऊर्ध्वता का वर्णन बड़े ही कलापूर्ण ढंग से किया है। अत: श्रीहर्ष का सामुद्रिक शास्त्रज्ञता प्रमाणित होती है।

श्रीहर्ष के नैषधचरितम् में अश्वों के लक्षणों से लेकर उनके स्वभाव की छोटी-छोटी बातों की चर्चा की गई है। प्रथम सर्ग में ही अश्वों का वर्णन

मिलता है। अश्व के गुण व दोषों की भी प्रामाणिक जानकारी कवि ने अपने काव्य में दी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष अश्वशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थी। श्रीहर्ष का संगीतशास्त्र पर साहितयशास्त्र की भांति ही असाधारण अधिकार था।

इस प्रकार नृत्यकला और नाट्यकला पर भी उनका अधिकार दिखाई देता है। वाद्यो के सम्बन्ध में भी उनका ज्ञान परिलक्षित होता है। क्योकि उन्होने अपने महाकाव्य में विभिन्न वाद्यो का परिचय दिया है। कवि ने संगीतशास्त्र के षडज ऋषभादि स्वरों, मूर्च्छनाओं आदि का उल्लेख किया है। उन सबके परिशीलन से ज्ञात होता है कि उनका ज्ञान इन सब विषयों में अच्छा ज्ञान होगा। धनुर्वेद का भी उल्लेख उनके महाकाव्य में देखने को मिलता है।

श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' में कामशास्त्र के विषय में उनके जो प्रसंग है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को वात्सायन के कामशास्त्र का अच्छा अध्ययन था। क्योंकि उन्होने काम के सन्दर्भ में जो बाते की है, उससे उनके कामशास्त्रीय ज्ञान का पता चलता है। उन्होने अपने महाकाव्य में कामशास्त्र को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।

इस प्रकार अब तक उल्लिखित विवेचन से सुस्पष्ट होता है कि मैने अपने विद्वान निर्देशक महोदय के निर्देशन में सम्पन्न हुए शोध-प्रबन्ध में

पूर्णनिष्ठा के साथ उक्त बिन्दुओं को स्पष्ट किया है। आशा है गुणैक पक्षपाती विद्वज्जन तथा जिज्ञासु मेरे इस प्रयास को अवश्य स्वीकार करेंगे।

अधीतग्रन्थमाला

# संदर्भ ग्रन्थ


1. नैषध चरित महाकाव्य — मल्लिनाथकृत जीवतु साहितम्
   प्रकाशचौखम्बा ओरियन्टालिया

2. नैषधीय चरितम् — श्री त्रिभुवन दास उपाध्याय
   चौखम्बा अमर भारती वाराणसी

3. नैषधीय चरितम् — चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्या
   आचार्य श्री शेषराजशर्मा रेष्मी
   चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
   संस्करण 1997

4. नैषधीय चरितम् — नारायण की नैषध टीका सहित
   प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस
   बम्बई संस्करण 1942 ई0

5. नैषधीय परिशीलन — डा0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल
   हिन्दुस्तानी एकेडमी
   इलाहाबाद (उ0प्र0) संस्करण 1992

6. संस्कृत साहित्य का इतिहास — बलदेव उपाध्याय
   प्रकाशक शारदा मंदिर बनारस
   संस्करण 1953

| | |
|---|---|
| 7. संस्कुत सुकवि समीक्षा | आचार्य बलदेव उपाध्याय<br>प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन चौक<br>वाराणसी संस्करण 1978 |
| 8. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास | श्री रामजी उपाध्याय<br>प्रकाशक रामनारयण लाल<br>वेनीमाधव प्रकाशक तथा पुस्तक<br>विक्रमाब्ध 2027 |
| 9. संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास (वाल्मिकी से पण्डितराज जगन्नाथ तक) | डा0 राधाबल्लभ त्रिपाठी<br>प्रकाश संस्कृत परिषद<br>सागर विश्वविद्यालय सागर (म0प्र0)<br>प्रथम संस्करण 1976 |
| 10. संस्कृत साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूप रेखा | शिवमूर्ति शर्मा, बद्रीप्रसाद पाण्डे<br>एशिया बुक कम्पनी 9 युनिर्वसिटी रोड<br>इलाहाबाद 2 |
| 11. संस्कृत सा0 का इतिहास | वाचस्पति गैरोला<br>चौखम्बा, विद्याभवन वाराणसी 1<br>संस्करण प्रथम वि0सं0 2017 |

12. वैदिक साहित्य और संस्कृति आचार्य बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक शारदा संस्थान
37 रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड वाराणसी 1
प्रथम संस्करण 1989

13. वृत्त रत्नाकर आचार्य बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के 37/117 गोपाल मंदिर लेन
वाराणसी 221001
पञ्चम संस्करण 1995

14. बृहद्दैज्ञरञ्जन लक्ष्मी वेकटैश्वर प्रेस प्रकाशन 1981 वि

15. वृहज्जातक

16. धर्मदर्शन की भूमिका जयप्रकाश शास्त्री
अशोक प्रकाशन 1
तोता का ताल आगरा 2
प्रथम संस्करण 1989

17. मनुस्मृति गुजराती प्रिटिंग प्रेस बम्बई 1913

18. हरिवंश पुराण

19. श्रीमद्भागवत

20. मत्स्य पुराण

21. महाभारत

22. ब्रह्मपुराण

23. स्कन्द पुराण

24. विष्णु पुराण

25. ब्रह्मा वैवर्त पुराण

26. भविष्य पुराण

27. अग्नि पुराण

28. पद्म पुराण

29. मार्कन्डेय पुराण

30. लिङ्ग पुराण

31. साधन माला — गायकबाड़ ओरियण्टल सीरीज

32. वाल्मीकि रामायण

33. भारतीय दर्शन — श्री बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक शारदा मंदिर
गणेश दीक्षित लेन बनारस
चतुर्थ संस्करण 1949

34. भारतीय दर्शन — श्री डा0 बद्रीप्रसाद सिंह
प्रकाशक स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कं0
हिन्दू विश्वविद्यालय लंका वाराणसी
षष्ठ संस्करण 1984

35. सांख्यकारिका — आचार्य जगन्नाथ शास्त्री
मोतीलाल बनारसी दास
बंगला रोड जवाहर नगर दिल्ली
चतुर्थ संस्करण 1975

36. योग सूत्र — आचार्य जगन्नाथ शास्त्री

37. तर्क भाषा — डा0 श्री निवास शास्त्री
साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ

38. वेदान्तसार — डा0 कृष्णकान्त त्रिपाठी
डा0 किरण लता शर्मा
साहित्य भण्डार शिक्षा साहित्य प्रकाशन
सुभाष बाजार मेरठ 2
पञ्चम संस्करण 1982

39. चरक संहिता

40. सुश्रुत संहिता

| | |
|---|---|
| 41. काव्य प्रकाश | आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि<br>वाराणसी ज्ञान मंडल लिमिटेड |
| 42. ध्वन्यालोक | आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि<br>प्रकाशक गौतम बुक डिपो दिल्ली |
| 43. काव्यालङ्कार | श्री रामदेव शुक्ल<br>चौखम्बा प्रकाशन |
| 44. काव्य मीमांसा | राजशेखर चौखम्बा सं0 सीरीज<br>संस्करण 1934 ई0 |
| 45. अलङ्कार सर्वस्व | रुय्यक,<br>जयरथ टीका सहित<br>काव्यमाला 1893 |
| 46. काव्यालङ्कार कारिका | श्री रामदेव शुक्ल<br>चौखम्बा प्रकाशन बनारस |
| 47. किरातर्जुनीयम् | श्री मल्लिनाथ<br>चौखम्बा भवन वाराणसी |
| 48. रघुवंश | श्रीराम प्रसाद त्रिपाठी<br>लोक भारती प्रकाशन<br>नई दिल्ली |

49. नाट्य शास्त्र — श्री बाबूलाल शुक्ल
चौखम्बा सीरीज वाराणसी

50. रसगङ्गाधर — आचार्य विश्वेश्वर
ज्ञान मंडल वाराणसी

51. साहित्य दर्पण — आचार्य विश्वनाथ

## संकेत सूची

| | | | |
|---|---|---|---|
| क.व.व. | कवि वंश वर्णन | वि.पु. | विष्णु पुराण |
| क.प्र. | कवि प्रशस्ति | अ.पु. | अग्नि पुराण |
| नैषध | नैषधीय चरितम् | सा.मा. | साधन माला |
| नै. | नैषधीय चरितम् | किरा. | किरातार्जुनीयम् |
| पा.शि. | पाणिनीय शिक्षा | र.व. | रघुवंश |
| स.द.स. | सर्वदर्शन संग्रह | का.प्र. | काव्य-प्रकाश |
| मनु. | मनुस्मृति | ध्व. | ध्वन्यालोक |
| याज्ञ. | याज्ञवल्क्य स्मृति | का.अ. | काव्यालङ्कार |
| गी. | श्रीमद्भगवत् गीता | अ.स. | अलङ्कार सर्वस्व |
| बृह.उप. | वृहदारण्यक उपनिषद | रस. | रसगङ्गाधर |
| तै.उ. | तैत्तरीय उपनिषद | सा.का. | सांख्यकारिका |
| ऋग्वे. | ऋग्वेद | यो.सू. | योग सूत्र |
| यर्जु. | यजुर्वेद | न्या.भा. | न्याय भाष्य |

| | | | |
|---|---|---|---|
| महा. | महाभारत | महा.स.प. | महाभारत सभा पर्व |
| वा.रा. | वाल्मिकी रामायण | महा.आ.प. | महाभारत आदि पर्व |
| हरि.पु. | हरिवंश पुराण | महा.शा.प. | महाभारत शांति पर्व |
| भा. | भागवत | वेदा.सा. | वेदान्त साहित्य |
| स्कन्द पु. | स्कन्द पुराण | भा.द. | भारतीय दर्शन |
| म.स. | मत्स्य पुराण | नै.ना.टी. | नैषध नारायण टीका |